हम सुबह से शाम तक इस जमीन से आसमान के बीच बहुत सी बातें, स्थितियां और घटनाएँ देखते सुनते हैं। लेकिन उनको लेकर हमारे भीतर और बाहर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। मनुष्य की इसी वास्तविकता का नाम अमानवीकरण तथा संवेदनाहीनता कहलाता है। निजी सम्बन्ध, बचाव और स्वार्थ के ऐसे घेरे हमें प्रारम्भ में तो अपने अस्तित्व की लड़ाई के लिये आवश्यक लगते हैं किन्तु धीरे-धीरे यही पलायनवादी आवरण हमारे भीतर छिपे सहज और संघर्षशील मनुष्य का गला घोंट देते हैं। स्थितियों से भागते-बचते इसी तरह समाज एक चूहातंत्र में बदल जाता है। व्यवस्था, सत्ता पद और प्रलोभनों के मायाजाल हमें मनुष्य की अनवरत सच्चाई से दूर ले जाते हैं। विचार-धारा और प्रतिबद्धता के आह्वान तब हम निजी कमजोरियों तथा भटकाव के कारण अनदेखे कर देते हैं तथा अपने को महज एक बहस और नारे-बाजी का मुहावरा बना देते हैं।

प्रस्तुत निबन्ध संग्रह जहां आपको अपने आपसे सीधी बातचीत के लिये तैयार करेगा वहां समाज और मनुष्य की सार्थक लड़ाई से भी जोड़ेगा। प्रश्न केवल सोते हुए लोगों को जगाने तक ही सीमित नहीं है अपितु जागते हुए लोगों को जगाने से भी जुड़ा हुआ है।

मेरी शब्द यात्रा के साथी
कुंज बिहारी को ।

जागते को कौन जगाये

वेद व्यास

पंचशील प्रकाशन, जयपुर

अन्तर्मन

मैं एक सहज-साधारण मनुष्य हूँ। धरती पर रहता हूँ। मुझे भी जीवन और जगत का सुख-दुःख महसूस होता है। इसीलिये मैं हर घटना-प्रतिघटना पर हलचल मे रहता हूँ। मैं समसामयिक से शाश्वत की खोज करता हूँ। क्योंकि मैं देवता, ऋषि और विदेह नही हूँ अतः वही भाषा बोलता हूँ जो मेरे भीतर है।

कुछ लोग मेरे शब्दो मे निर्भिकता देखते है तो कुछ लोग इनमे विवेचना को पढकर बेचैनी अनुभव करते हैं। मैं वस्तुतः लिखते समय शब्दो की आराधना करता हूँ और यह विनम्र प्रयास करता हूँ कि दुनिया से भागो मत, इस दुनिया को बदलो।

आग्रह और दुराग्रह मेरे स्वभाव के अग नही हैं। अतः सामयिक सन्दर्भों पर मेरा सोच मनुष्य के अनवरत संघर्ष से जुड़ा रहता है। मनुष्य और विज्ञान ही मुझे प्रेरित करते हैं क्योकि वेदान्त की रचना भी मनुष्य ने, मनुष्य के लिये ही की है।

यह तो मेरी छोटी-सी समझ का प्रातःकाल है। मुझे विश्वास है कि मैं उन सबके साथ शब्दो के सूर्य लेकर चलूँगा जो शताब्दियों से अधेरे की घाटियो मे धकेल दिये गये है।

मैं क्या हूँ
मै तो एक पवन चक्की हूँ,
मेरे तो पख भी निष्प्राण हैं,
हवा ही मुझे चलाती है
और—मै
हवा को बिजली बनाता हूँ।

इस सग्रह के अन्तर्मन मे छिपी उन सभी प्रवृत्तियो पर मुझे आपकी प्रतिक्रिया, भविष्य मे निरन्तर सुधारेगी ऐसी आशा है।

पचशील प्रकाशन के—भाई मूलचद गुप्ता मेरे लिये एक प्रकाशक मात्र ही नही है अपितु एक श्रमजीवी सहयात्री भी है। इन्हे मेरी शुभकामनाएँ।

जयपुर
1 मई, 1988

—वेद व्यास

खुलासा

सती प्रकरण–1

सांप के चले जाने पर लकीर पीटने और लाठियां बजाने की हमारी पुरानी प्रथा है। यह प्रथा भी वैसे ही है जैसे कि दिवराला में रूपकंवर का सती होना। हम यदि इस सचाई को स्वीकार करलें कि हम बीसवीं शताब्दी में भी पूरे साक्षर और विवेकी नहीं बन पाये हैं तो क्या बुरी बात है। रूपकंवर को सती होना चाहिए था या नहीं, परिवार वालों को उसे सती होने से रोकना था या नहीं, पुलिस को मौके पर जाकर चिता की आग बुझानी थी या नहीं, राजपूतों को जयपुर में नंगी तलवारों का जुलूस निकालना था या नहीं, उच्च न्यायालय को चुनरी की रस्म पर रोक लगानी थी या नहीं तथा ऐसे ही बहुत सारे सवाल अब निश्चय ही महज बहस का हिस्सा हैं। क्योंकि अब रूपकंवर तो इस जीवन में कभी लौट कर आ नहीं सकेगी।

इस सारे घटनाक्रम में मेरी समझ से सबसे बड़े तमाशबीन दिवराला के वे हजारों नागरिक हैं जो रूपकंवर को सती होते देखते रहे तथा आंख मीच कर जय-जयकार करते नारियल, बताशे चढ़ाते रहे। सती के मन का दूसरा बुखार अखबारों पर चढ़ा। इस घटना पर इनकी नींद भी उस समय खुली जब राजधानी में कुछ महिला संगठनों ने सतीप्रथा के विरोध में जुलूस निकाला। लेकिन उच्च न्यायालय द्वारा स्थगन आदेश देने के बाद तो चारों तरफ सती के तेज की कहानियां, घटनाएं, आशंकाएं, राजनेताओं की कलाबाजियां, सती परम्परा के अनुसंधान और रूपकंवर के बचपन से लेकर हंसते हुए या रोते हुए चिता में जलने की तस्वीरें और दास्तानों की बाढ़ ही आ गई। अब इस पूरी स्थिति में सभी की लात राज्य सरकार पर पड़ रही है तथा कोई भी यह नहीं बता रहा है कि सतीकांड के समय घटनास्थल पर उपस्थित जनता की कौनसा सत या लकवा मार गया था जो वे इस नृशंस मौत को कौतूहल से देखते रहे। वस्तुतः रूपकंवर के सती बन जाने के बाद सबसे ज्यादा गुस्सा समझ-दार लोगों को उस सरकारी प्रबंध पर आ रहा है जो सती होने के दिन से लेकर चुनरी की रस्म तक उनके अनुसार खामोश दर्शक बना रहा है। मान लेते हैं यदि चुनरी रस्म अमफल भी हो जाती तो रूपकंवर वापस जिंदा हो जाती? राजपूत समाज अपनी जड़ताओं से मुक्त हो जाता? और हमारे समाज में किसी विधवा के

स्वाभिमानपूर्ण जीवन की शुरूआत हो जाती ? आज रूपकंवर हमसे यह सवाल करती है कि हे नेताओ, समाज सुधारको, धर्माचार्यो, पत्रकारो, लेखको, इतिहासकारो मुझे कोई यह बतायेगा कि मैं विधवा बनकर इस भूखे-नंगे समाज में किसके लिये और क्यो जीवित रहती ? जिस राजपूत समाज में लड़की के जन्म को अशुभ मानकर उसका गला घोंट देने की रिवाज रही हो, जिस समाज में मरने वाले के साथ जिन्दा जलाने वाले अथवा जला दिये जाने वाले को देवता और देवी की मान्यता दे दी जाती हो, उस मध्यकालीन भारतीय मानसिकता में भला मेरे "स्त्री" होने की क्या प्रासंगिकता है ? इतिहास भी तो यही बताता है कि विधवा का जीना तो मौत के समान है। पुरुष प्रधान समाज में किसी स्त्री का जीवित चिता में जलना इसलिये सती का अवतार बताया गया है ताकि पुरुष की जागीर बची रहे और उसके लिये मरने वाली को 'देवी' कह कर अपने दायित्व की इतिश्री समझ ली जाय।

18 वर्ष की रूपकंवर ने कभी सती होने का सपना नहीं देखा था। उसने तो पारिवारिक जीवन में पांव ही रखा था कि पति के देहांत से हतप्रभ हो शायद आवाज उसे गली-मोहल्लों से सुनाई दी हो कि 'कैसी कुलच्छनी का पगफेरा हुआ जो जवान खसम को खा गई।' मैं भारतीय समाज के इस पिछड़ेपन को ही सती की पृष्ठभूमि में कहीं ढूंढता हूँ। क्योंकि हम संस्कार के नाम पर पाप पुण्य बनाते आये हैं, धर्म के नाम पर युद्ध करके शांति के पैगम्बर कहलाये हैं, रूढ़ियों और रिवाजों के नाम पर अपने चिरन्तन पिछड़ेपन को छिपाते आये है। दर्शन और आध्यात्म ने हमें तर्कहीन तो बनाया ही है किन्तु अत्याचारी भी बनाया है।

सती होना कोई हंसी-दिल्लगी नहीं है। यह एक अपवाद और असामान्य घटना है। किन्तु हम अपनी संस्कृति के नाम पर हर अपवाद को अलौकिक और सत को परछाई कहने के आदि हैं। सती होते ही चबूतरा बनाने की, चबूतरे के चारों तरफ पूजापाठ बेचने को दूकानें लगाने की, मौत पर कलैण्डर छापकर बेचने की और अखबारों में बयान उछाल कर किसी घटना को इतिहास बनाने की हमारी पुरानी मनोवृत्ति है। तथा जिसके मूल में हमारा जातिगत अभियान और समाजगत व्यवसायिक शोषण ही मुख्य है।

सती होने के बाद यदि आप वहां मंदिर नहीं बनने देंगे तो कौनसा किला फतह कर लेंगे ? सती की परिक्रमा में लगातार सभी तरह के नर-नारियों का आना इस बात का प्रमाण है कि हम आज भी अपने होने की सार्थकता तय नहीं कर पाये हैं। हम अनपढ़ और अंधविश्वास ग्रामीणों को ही क्यों दोष दें। सती के चक्कर लगाने में जब मंत्रियों, अफसरों और समाज सुधारकों के परिवार ही हिस्सा ले रहे हों तो फिर राजा राममोहन राय की डेढ सौ वर्ष पुरानी विचार चेतना की चिंता यहां किसे है। क्या हमने कभी राजा राममोहन राय को पाठ्यक्रमों में पढ़ाया है ?

क्या हमने सती स्थलों के पंजीकरण पर कोई रोक लगाई है ? क्या हम सती मेलों को सरकारी मान्यता देने से बाज आये हैं ? क्या हमने सतियो पर बनी फिल्मो के प्रदर्शन को बंद किया है ? यदि हम ऐसा कुछ भी नही कर पाये है तो फिर हमे क्या हक है कि हम किसी बेकसूर रूपकंवर को जीवित चिता मे जलने से रोक सकें।

हमारी स्मृतियां, वेद-पुराण और उपनिषद कभी मनुष्य की अनचाही अथवा चाही मौत (संथारा) का समर्थन नही करते। आखिर यह कौनसी प्रथा है जिसमे हर बार स्त्री को ही बली का बकरा बनाया जाता है। भला पुरुष इस तरह अपनी पत्नी के देहांत पर मन का तेज ओढ़कर जिन्दा आग मे क्यो नही जलता। ऐसे मे इतिहास की यह विडम्बना पुरुष समाज के लिये गरिमा और स्त्री समाज के लिये सजाए-मौत से भला कैसे कम कही जा सकती है।

मैं समझ नही पाता कि कोई पिता अपने पुत्र पुत्रियो के लिये, बहिन अपने भाई के लिये, भाई अपनी बहिन अथवा माता पिता के लिए सत की आग में क्यों नहीं जलते। हवन की हर वेदी पर सुहागिन ही क्यो बैठती है। आखिर किसी विधवा को यह अधिकार क्यो नही दिया जाता यह कौनसा धर्म है जो विधवा को जीवन भर घर की कोठरी मे काले-सफेद कपडे पहन कर नंगे हाथ और सिंदूर-विहीन मांग लेकर रोते-रोते दूसरो का दिया खाने को मजबूर करता है। यह कौनसा आदर्श है जो विधवा को किसी काम के बीच अशुभ का दर्शन समझता है, तो यह कौन-सा मोक्ष शास्त्र है जो विधवा को स्वर्ग मे जाने का अधिकार नहीं समझता। यह प्रश्न मैं आपके सामने मेरी बहिन रूप कवर की तरफ से प्रस्तुत कर रहा हू। वह अब स्वर्ग मे होगी या नर्क म मुझे पता नही। किन्तु उसने मुझे बताया है कि वह विधवा के इस जीवित नर्क से सती के उस तथाकथित परलोक मे ज्यादा खुश है।

स्त्री को पुरुष की पूंछ समझने वाला, नारी को ढोर, गंवार और शूद्र के समान मानने वाला, औरत को पाव की जूती की तरह पहनने वाला और स्त्री को भेड़-बकरी से भी कम दाम पर बेचने वाला, पिता की जायदाद से लड़की को वंचित रखने वाला, तीन-तीन पत्नियों का एक साथ सुख भोग कर तलाक की दादागीरी करने वाला, सीता की अग्नि परीक्षा लेने वाला, द्रोपदी के लिए महाभारत करने वाला और पत्थर को ठोकर मारकर उसे अहिल्या बनाने वाला यह पुरुष यदि ऐसे ही अपना सुदर्शन चक्र चलाता रहा तो निश्चय ही हम किसी रूप कवर को फिर जीवित जलने से नही रोक पायेंगे। अपनी हार को स्त्रियो के जौहर मे छिपाने वाले, स्त्री को सेक्स और नंगे प्रदर्शन की सामग्री समझने वाले, स्त्री को दहेज में जला देने वाले, स्त्री को चकलाघरो मे ले जाने वाले, और स्त्री को अपनी चारपाई की तरह इस्तेमाल करने वाले समाज का दम इतना खोखला है कि उसे सरकार अध्यादेशो से

मजबूत नहीं बना सकती। सती के नाम पर नगी तलवारें दिखाने वाले यदि विधवाओं और सधवाओं की गरिमा के लिये जुलूस निकालते तो इतिहास बदलता और रूप कंवर को अपने नारी होने की प्रासंगिकता पर गर्व होता।

आज रूपकंवर इसी प्रसंग में प्रासंगिक है कि आने वाले समय मे फिर कोई स्त्री अपने को जिंदा न जलाये। दुनिया को जीतने वाले बादशाह—महाराज भी अपनी अगुली में लगी फांस से विचलित होते रहे हैं तो भला कोई स्त्री फिर कैसे सबके देखते-देखते मर जाती होगी। हम देखते रहे और रूपकंवर सोलह शृंगार करती रही, हम कीर्तन करते रहे और रूपकंवर चिता पर बैठ गई, हम नारियल चढ़ाते रहे और रूप कंवर जलती गई, हम परिक्रमा लगाते रहे और रूपकंवर समाचारों की खुराक बन गई। क्योंकि वह भारतीय नारी थी, अबला थी, विधवा थी। एक समय था तब अफ्रीकी देशो मे और मध्य एशिया में स्त्रियों को राजा-मुखिया अथवा कबीले के प्रधान की मृत्यु पर जबरन दफना दिया जाता था, जला दिया जाता था अथवा भूखों तड़फा-तड़फा कर मार दिया जाता था, किन्तु भारत में धर्म संस्कृति का जयघोष उसे एक लोकदेवी, मंदिर पूजा और पोस्टर में बदलकर अपना नारी ऋण चुकाता है।

आज भी नारी ही पुरुष को सब कुछ देती है। प्यार, दुलार और वंशवृक्ष सौंपती है। वह खेत-खदान, घर-आंगन सभी तरफ टूटती है। लांछन-तिरस्कार, अवहेलना-बलात्कार तक सब झेलती है किन्तु बदले में हमारा समाज उसे सती बनने के लिये मजबूर करता है और प्रेरित करता है। समय के इस झरोखे से एक बार फिर देखें कि रूप कंवर सती नहीं हुई है। अभी भी करोड़ों रूप कंवर अपने सपनों को सजा रही हैं। न्यायालय के त्रिशूल पर कभी कोई चुनरी उड़कर नही अटक पायेगी क्योंकि अन्याय संगठित है। इसीलिये सती कहती है कि मैं रूप कंवर तो जन्म से थी किन्तु मेरी तस्वीर कभी किसी ने नहीं छापी? क्या इस सबके लिए किसी स्त्री का जीवित जलना अनिवार्य है? कृपया यह तो बतायें कि आप मुझे देवी बनाकर क्या पायेंगे, ट्रस्ट बनाकर कौन-सी मेहनत का धन उसमें डालेंगे और मेले लगाकर किस अंधे को आंख, बहरे को कान और लंगड़े को पांव देंगे। मैं सिर्फ एक अबोध रूपकंवर हूं। आपकी बेटी, बहन, ननद, भौजाई और सगी सम्बन्धी हूं। आप मुझे देवी न बनायें। मेरी चिता पर राजनीति, धर्म, षड्यन्त्र, छापे तिलक और गाजे बाजे न करें। मुझे यहाँ तो चैन से रहने दें!

15-11-1987

सती प्रकरण–2

हमारा देश एक साथ कई शताब्दियों मे जीता है। धर्म और जाति परम्परा इसकी प्राण वायु है। दिवराला की रूप कवर ने एक बार फिर यह साबित कर दिया है कि सरकार और कानून जो नही कर सकते वह समाज कर सकता है। समाज चाहे तो परम्परा को प्रथा बनाकर तथा जीवित को सार्वजनिक रूप से जलाकर उसे सतीमाता के रूप मे मान्यता दे सकता है और समाज चाहे तो व्यक्ति को आमरण अन्न-जल छुड़वाकर सथारा मोक्ष के द्वार तक पहुँचा सकता है। सरकार और समाज के बीच जीवित इसी खोखलेपन को दिवराला के नागरिकों ने भरी दोपहरी चदन की चिता पर चढा दिया। हम देखते रहे और रूप कवर सती हो गई।

रूपकवर के प्रसग को अब हम जिस तरह उलझा रहे है कि उससे अध्यादेश तो जारी हो सकता है लेकिन किसी सिरफिरे की स्त्री का बलिदान देने से नही रोका जा सकता है। क्योंकि देश मे जितने प्रकार के कानून बने हुए है उतने ही प्रकार के अपराध भी मौजूद है। कानून केवल भय पैदा करता है किन्तु जब समाज धर्म की लाठी उठाकर निर्भय हो जाय तो फिर भला कानून भी क्या कर लेगा। राजा राममोहन राय ने तो डेढ सौ वर्ष पूर्व ही सती विरोधी कानून अग्रेजी हुकूमत से बनवा दिया था लेकिन इसके बावजूद भी सतीकाड होते रहे हैं, मन्दिर बनते रहे हैं, मेले लगते रहे हैं, सेठ-साहूकार सती मन्दिरो पर करोडो रुपये खर्च करते रहे हैं, सती मेलों की सरकारी छुट्टिया होती रही हैं तथा सती स्थलो पर धर्मशाला और लोक सुविधाओं का उद्घाटन और शिलान्यास मत्रीगण करते रहे हैं। आप शायद इस बात पर ध्यान नही दे पा रहे है कि हमने सतीप्रथा को सस्थान बना दिया है तथा इसका अपना समाजशास्त्र, राजनीति शास्त्र और इससे भी व्यापक वाणिज्य शास्त्र है।

आज तक किसी ने भी इस बात की खोज नही की कि कलकत्ता, बम्बई और मद्रास मे बैठे प्रवासी राजस्थानी को अचानक रात को यह सपना ही क्यो आता है कि उसको सतीमाता की सेवा मे लग जाना चाहिए। वह आनन-फानन मे करोड़ों रुपये सतीमाता के लिये कैसे खर्च कर देता है और समाज और राजनेताओं का आदरणीय साथी कैसे बन जाता है? अकेले झुंझुनू, सीकर और चूरू जिले मे ही यदि सती मन्दिरो का वाणिज्य शास्त्र समझ लिया जाय तो हमारी आखें खुल सकती हैं। लेकिन हमारी पूरी लडाई इतनी भटकती हुई है कि हम रूप कवर की शव परीक्षा करने उसके भीतर कानवेन्ट (अग्रेजी स्कूल) के सर्टिफिकेट, सैलून मे बावकट

हेयर बनवाने के प्रमाण और उसके अतिरिक्त पुरुष सम्बन्धों तक पहुंच गये हैं। या फिर हम उसके पति मालसिंह की नपुंसकता, मानसिक तनाव और पेट के दर्द का डाक्टरी पर्चा ढूंढ रहे हैं। इसके विपरीत कुछ लोग महानगर की सड़कों पर नारी-रक्षा के नारे-जुलूस निकाल रहे है। इसी तरह कुछ लोग रूपकवर की समाधि पर नंगी तलवारों का पहरा दे रहे है तो कुछ परम्परावादी धर्म की मशाल लिये सती-प्रथा को महिमामंडित कर रहे हैं। पुलिस लगातार चुप है, अध्यादेश सिर पर खड़ा है, शहरों में सती विरोधी प्रस्तावों की बाढ़ आ गई है लेकिन दिवराला में आज भी हजारों नरनारी सतीमाता की जय-जयकार करते हुए, नंगे पांव अपने नारियल बताशे चढ़ा रहे हैं और मनोतियां मांग रहे हैं। इसलिये कहा गया है कि गांव माने सो सती गाव के जिन लोगों को हम अज्ञानी, अन्धविश्वासी, गंवार और पिछड़ा हुआ कहते हैं वही देश की सरकार बनाता है और वही रूप कंवर को सती बनाता है।

यहां प्रश्न आता है कि यदि रूपकवर सती नही बनाई जाती तो क्या सती-प्रथा समाप्त हो जाती ? सतियों के सैकड़ों मन्दिर और लाखों भक्त समाप्त हो जाते ? सतियों के भजनो पर और फिल्मों पर पाबन्दी लग जाती ? सती के कैलेन्डर और कथाएं बिकना बन्द हो जाती ? मेरी समझ में रूपकंवर तो शताब्दियों से इस देश मे एक धर्म व्यवसाय का संस्थान बन गई है तथा निहित स्वार्थों ने उसे गांव-गुवाड की लोकदेवी बना दिया है। अतः हमें रूपकवर की जन्म पत्री देखने की बजाय अपने समाज की जन्म कुण्डली देखनी चाहिए और सोचना चाहिए कि सभी सतियां गांवो मे ही क्यो स्थापित होती हैं। क्या शहर में किसी स्त्री को जाति, धर्म और परम्परा का सत नही चढ़ता ? रूपकवर दसवीं कक्षा तक पढ़ी थी और सती कैसे हो गई, इस प्रकार का उत्तर यह भी तो हो सकता है कि सती होने के लिये किसी स्कूली शिक्षा की उतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी की पारिवारिक और व्यक्तिगत परिवेश की जरूरत होती है। दिवराला के सैकड़ों नर-नारी आज भी सती की परिक्रमा क्यो लगा रहे हैं इसका उत्तर हमे अपने सड़े गले समाज के धर्म-शास्त्र और व्यावहारिक दुनिया मे ढूंढना पड़ेगा।

मेरा तो मानना है कि जब तक हम स्त्री को वीर भोग्या, वसुन्धरा और ढोल-गवार-शूद्र-पशु-नारी मानते रहेंगे तब तक रूपकवर सती होती रहेंगी। इसमें स्त्री को आखिर दिया क्या है ? बदले में स्त्री से हम क्या नहीं लेते। आज भी स्त्रियों के साथ गांवों में बलात्कार होता है, लड़की को शिक्षा की मनाही में हर कहीं मिलता, चार-चार स्त्रियों को भोगकर भी हम तालियां बजाते हुए उनसे सवाल ले लेते हैं। हम स्त्री को पांव की जूती समझते हैं और बदले [illegible] फिर भी समाज, दया, सेवा-चाकरी सब कुछ देती है। इसके अलावा किसी स्त्री का विधवा होना तो इतना समाज में उसके लिये मरने जैसा गया है। हमने [illegible] तब उसे डोलती बना

दिया, हमने जब चाहा तब उसे कुन्ती बना दिया, हमने जब चाहा तब उसे वनवासिनी सीता बना दिया, हमने जब चाहा तब उसे गधारी और अहिल्या बना दिया तो हमने जब चाहा तब उसे अपनी सुविधा से वेश्या, देवदासी और जनानी ड्योढी की बाईजी बना दिया।

कभी हमारे समाज ने लड़की के बाल विवाह को शोभनीय मान लिया तो कभी पति के मरने पर देवर और जेठ से उसको बधने पर मजबूर कर दिया। और तो और वृन्दावन, काशी और अनेक धर्मतीर्थों पर आज भी विधवाओं को विलाप करने के लिये हमीने तो छोड़ा है। क्या हमारा स्त्री के प्रति नजरिया बदला है ? यदि नही बदला है तो रूपकवर का नजरिया बदलने के लिये शहर मे बैठे बीरबल की तरह खिचड़ी पकाने से क्या लाभ होगा ? आज तक किसी ने भी मत, सती और सूरमाओ की चेष्टा नही की कि महिलाओ को उनके पुरुष निर्मित नर्क से बाहर कैसे निकाला जाय। दिवराला के अनपढ अज्ञानियो को आज तक किसी ने घर-घर जाकर यह क्यो नही समझाया कि तुम घूघट छोड़ो, दहेज छोड़ो, पढ़ो-लिखो, खानदेवरे तोड़ो और असमानता के लिये तथा जीवन विकास के लिये सोचो-समझो।

शहर वाले ज्ञानी है और गाव वाले अज्ञानी हैं, यह मिथ (भ्रम) आखिर कब तक बना रहेगा। यह शहर भी तो कभी गाव ही था। इस शहर मे पढ-लिखकर भी कोई गावो मे और अपने परिवारो मे महिलाओ को नये जन्म का रास्ता क्यो नही बताता। शहर के किस विश्वविद्यालय ने सती मस्थानो के मायाजाल पर शोध की है, किस पाठ्यक्रम मे दहेज, बहुविवाह, औसर-मौसर, बालविवाह और सती जैसी कुरीतियो पर कुछ जोड़ा गया है। हमने किस विधवा को सम्मान से जीने मे मदद की है। हम सब इसलिये शरीके जुर्म है तथा हमारी सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था शताब्दियो से इन जड़ताओ को धर्म, जाति और सम्प्रदाय की नगी तलवारो के नीचे सींचती आई है। नौ हजार की आबादी वाले दिवराला गाव मे नौ आदमी भी रूप कंवर को सती बनाये जाने से नही रोक सके। यह स्थिति इस बात का प्रमाण है कि हमारी यह पुलिस, प्रशासन, कोर्ट-कचहरी, नेता, अभिनेता, लेखक, पत्रकार, सबके सब महिलाओ की सामूहिक बेइज्जती के जिम्मेदार हैं और हर पुरुष के भीतर बैठा एक सामन्त, समय आने पर रूप कवर को सती बनने के लिये बाध्य करता है।

जिस राजस्थान मे महिला शिक्षा का प्रतिशत देश मे सबसे कम हो, जिस प्रदेश मे अपनी सुरक्षा के लिये नारियो को जौहर करना पड़ा हो, जिस प्रात मे लड़की को जन्मते ही मार दिया जाता हो, जिस धरती पर स्त्रिया मीलो रेगिस्तान मे चलकर पानी का घड़ा लाती हो, जिस राज्य मे लडकियो का पढ़ना लिखना और पर्दा छोड़ना पाप और विद्रोह माना जाता हो उस समाज के संस्कार को और विचार

को बदलने के लिये यहां तो एक भी राजा राममोहनराय और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर नहीं हुए। हम कई मायनों में रूपकवर के आभारी हैं कि उसने हमारे सम्मुख सामाजिक और राजनैतिक ढांचे को नंगा कर दिया। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि जो समाज रूप कवर को सती होने से नहीं रोक सका वह समाज अब उसे उपभोक्ता सामग्री बनने से भी नहीं रोक पा रहा है। दिवराला का नाम और रूपकंवर की तस्वीर अब तक बिक रही है और तो और जंग लगी तलवारें, काशी में बैठी पोथियाँ (शंकराचार्य) और जात-पांत की राजनीति से वोट की सरकार बनाने वालों के बयान अब तक आ रहे हैं। सब रूपकंवर को याद कर रहे हैं और सती को भुनाना चाहते हैं।

रूपकवर का सती प्रसंग, धर्म को पैनापन देने के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है। सती के नाम पर राणवका लोग अपने अज्ञान और गरीबी को छिपाना चाहते हैं। स्त्री की जबरन मौत को अलौकिक रूप दिया जा रहा है तथा सभी प्रकरणों के इतिहास-भूगोल ढूँढे जा रहे हैं। यह एक ऐसी महाभारत है जिसकी नायिका रूप कवर, मरकर भी हमारे पिछड़ेपन को उजागर कर गई है। आने वाली पीढ़ियाँ अध्यादेशों को पढ़कर किसी स्त्री को सती होने से रोक सकेंगी ऐसे ख्याली पुलाव पकाये जा रहे हैं। कोई यह क्यों नहीं कहता कि हम रूप कवर और दिवराला की मानसिकता बदल देंगे और उसकी समझ इस तरह बना देंगे कि वह फिर सती माता के जय के नारे नहीं लगाये और किसी विवश, विधवा, लाचार और प्रताड़ित स्त्री पर चुन्दरी, नारियल, प्रसाद और मनौतियां नहीं चढ़ावे।

राजस्थान के ही मूर्धन्य कवि स्वर्गीय गणेशलाल व्यास 'उस्ताद' के शब्दों में आधा अग अचेतन होता, आधा अग सहेता कंसे?

आधी दुनिया (नारी) की यह लड़ाई अकेले रूप कवर भला इतनी दूर होकर भी कौन से साहस से लड़ती? सास-ससुर, ननद-भौजाई, जेठ-जेठानी, देवर-देवरानी, सभी जब रूप कवर को यथाशुभ सिंगार दिखाकर सती बनने की प्रेरणा दे रहे हों और आस-पड़ोसी सतीमाता की जय बोल रहे हों और सभी में भी हाथ रहे हों तो फिर राजा राम मोहन राय और हरिदेव जोशी के उपदेश भला सती समर्थकों के अंधविश्वास को कैसे काट सकते हैं? आग के पास आने पर साड़ियाँ [illegible] और शरीर ऐंठने से [illegible] है। हम इस पाप के गुनहगारों को [illegible] दस्तावेज में [illegible] दें और भविष्य के लिए ऐसा जन-जागरण अभियान चलायें [illegible] कोई विधवा, दहेज की सताई, पुरुष से सताई और [illegible] विवाह का [illegible] लड़की और [illegible] [illegible] के [illegible]। यह दुर्भाग्य की विडम्बना है कि हमारे देश की [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] देश की [illegible],

प्रबोध और अबला रूप कंवर भी एक स्त्री ही थी। नारी दहन का यह 'भद्र लोक' इसीलिए तो आज भी जीवित है कि हम पहले स्त्री का वध करते हैं और फिर उसे देवी बनाकर मन्दिर मे बैठा देते हैं। अतः हम रूप कंवर के आभारी हैं कि उसने एक बार फिर हमे पुरुष कहलाने से वंचित कर दिया।

10-11-1987

कृपया विचार करें

आजकल साहित्य की दुनिया मे लोगो पर आत्म-प्रचार और व्यक्तिगत सुख-सुविधाएँ जुटाने का बुखार चढ़ा हुआ है। थोड़े से लोगो को छोड़कर अब सबकी नजर इस बात पर है कि कैसे अकादमियो को पटाया जाय, कैसे आकाशवाणी-दूरदर्शन मे घुसा जाय, कैसे पत्र-पत्रिकाओ मे जमावड़ा फिट किया जाय तो किस तरह बहुचर्चित संस्थाओ एवं मंचो मे यार-दोस्ती का तंबू ताना जाय। मुझे अपने अनुभव मे अब तक लिखने वाले अधिक मिले हैं तो लेखक बहुत ही कम मिले हैं। कभी-कभी तो ऐसा लगने लगता है कि शायद लेखक के नाम पर शायरी करने वाला व्यक्ति अपने भीतर से बहुत बौना है। वह पढ़ता बहुत कम है और बहस बहुत अधिक करता है।

मै यह देखकर अक्सर हैरान हो जाता हूँ कि लेखक कहलवाने की इच्छा व्यक्ति को क्या-क्या नाटक करने पर मजबूर करती है। दुनिया भर के साहित्य पर जीवनभर क्लासरूम मे भाषण देने वाला व्यक्ति भी अपने व्यक्तिगत सरोकार और सोच मे किसी सामाजिक-राजनैतिक विचार शैली का पक्षधर नही होता। वह सारी उम्र अपने को उस घूमती हुई महंगी कुर्सी की तरह रखता है जिस पर जो चाहे सो आये और बैठ जाये तथा दुनिया को चाहे जिधर से कुर्सी घुमाकर देखता रहे। लेखक के भीतर (खासकर मध्यम वर्ग के नौकरी पेशा लेखक के मन मे) इमान का भय इस तरह घर कर गया है कि वह सब कुछ जानते-समझते हुए भी, विचारधारा का विरोध करता रहता है, उसको नही मानने की बहस करता रहता है। यह सब इसलिये होता है कि बेरोजगारी से बड़ी मुश्किल से निकल कर आया व्यक्ति जैसे ही लेखक का लबादा ओढ़ता है वह अपने को दूसरो से विशिष्ट तथा अधिक समझदार समझने लगता है। उसकी बहस और भाषण सुनकर लगता है जैसे उसके ऊपर सारे देश की जिम्मेदारी है। राजस्थान मे छोटे-बड़े कोई 400 हिन्दी लेखक हैं। लेकिन इनमे अधिकांश लेखक मुक्त चारागाहो मे घूमते हैं सदा काफी हाउस, चाय की

होटलों और पान की दुकानों पर साहित्य की बुनियादी भूमिका पर कम वरन् साहित्य में कहाँ और कैसे जुड़ने तथा घुसने की रणनीति पर अधिक बात करते हैं। आँखों पर पट्टी बांधकर कोल्हू के बैल की तरह सारी जिन्दगी अपनी रचनाओं का बोझ लादे यह लेखकनुमा लोग तिलों से तेल निकालते रहते है और उसे अपने-अपने साथियों को चुपड़ते रहते हैं।

लेखक की यह मृग-तृष्णा इतनी विकृत है कि उस पर कभी किसी प्रकृति, पर्यावरण, मनोविज्ञान, सामाजिक-आर्थिक अन्तर्सम्बन्ध, राष्ट्रीय राजनीति और विश्व मानवता के यथार्थ का असर नही होता। वह केवल भाषा विज्ञान, शैली विज्ञान और छंद-अलकार विज्ञान पर ही शोध करता रहता है। उस पर अकाल की विभीषिका से भूखों मरते और मजूरी को डकारते ठेकेदारों की पशुता का कोई असर नहीं पडता। इन लेखकों पर साम्प्रदायिक दंगों का, पिछड़ी जातियों के साथ शताब्दियो से जारी बलात्कार का, राजनैतिक सततिवाद का, अंग्रेजों की जूठन (अंग्रेजी) पर सिर फोडती नौकरशाही की रास-लीलाओं का अपनी ही छाया को काटकर बेचने वाली नंगी आदिवासी जनता के आंसुओं का कोई असर नही होता और न ही इन पर धर्मगुरुओं की पोप-लीलाओं का कोई प्रभाव नजर आता है। सारी संवेदनाओ से मुक्त यह लेखक केवल अपनी नौकरी, तबादले, पुस्तक-प्रकाशन, पुरस्कार और रोज पत्र-पत्रिकाओं एवं अखबारों मे छपने के शिथिल रोग से पीड़ित है। ऊपर से आप यह भी कहते हैं कि साहित्य एक गंभीर मामला है तथा इसके अन्तर्गत प्रकृति, विज्ञान, राजनीति, संस्कृति और सामाजिक-आर्थिक मसलों को शामिल नही किया जा सकता। यह लेखकछाप लोग अक्सर भूल जाते है कि दुनिया का श्रेष्ठ साहित्य 'मनुष्य को समर्पित' रचना होती है। यदि मनुष्य को जन्म से मृत्यु और पीढ़ियों तक प्रभावित करने वाले तत्व और परिस्थितियाँ कोई लेखक नही समझेगा तो वह भला साहित्य कैसे लिख पायेगा। अपने अज्ञान को छिपाने के लिए समाज और मनुष्य के परिवेश को ही नकार देना उसके लिए आसान काम है। यही कारण है कि साहित्य की गोष्ठियों, परिसंवादों और सभा-सम्मेलनों में प्रायः सतही और एकांगी बातें अधिक होती हैं। बिना पढ़े, बिना विचारे और बिना समझे—सारे विषयों पर ये लोग सामान्य मुहावरों में बोलते रहते है। न तो इस संवाद के पीछे कोई गंभीरता होती है, न ही कोई अध्ययन होता है और न ही कोई आगे की दिशा होती है। ऐसे लोग प्रायः साहित्य मे विचारधारा का विरोध करते हैं। यह ठीक वैसा ही है जैसे कि निजी मुनाफे के लिए निजी क्षेत्र लगातार सार्वजनिक क्षेत्र की आलोचना और असफलता की दुहाई करता रहे।

हर लेखक ने अपने शहर, गांव और कस्बे में एक संस्था बना रखी है। 50 रुपये देकर वे पदाधिकृत हो जाते है। किसी का दुकानदारी और सर्वाधिकार बैठ जाता तो वह दो-चार पोस्ट संस्थाओं मे सम्बद्ध हो जाता है। बस—जीवन भर वे अपने लेटर

हैड को चलाते रहते हैं। पहचान और प्रसन्न दिखाई देने की यह प्यास उन्हें न तो साहित्यकार बना पाती है और न ही जनता में उनका कोई आदर बढ़ता है। मैं यह नहीं समझ पाता कि विचार-विहीन और व्यक्तिगत गुट के लिए जन्मी यह संस्थायें बनाकर लेखक आखिर चाहता क्या है? साहित्य कोई पान या परचूनी की दूकान है जो चाहे जहाँ और चाहे जो खोल ले? क्या संस्थाओं पर संस्थाएँ बनाकर कोई लेखक अच्छा सृजन कर सकता है? इस बात पर विचार करें कि यदि ऐसा ही चलता रहा तो एक दिन हर लेखक के गले में एक-एक संस्था की घंटी होगी तथा ये सारी घंटियाँ जीवन-भर अलग-अलग ही बजती रहेंगी। साहित्य का दायित्व लोगों में सामूहिक-चेतना का विकास करना है तो फिर लेखक होकर भी सामूहिकता को नष्ट करने का क्या अर्थ है? यह सारी गड़बड़ इसलिए है कि हर लेखक साहित्य को भी व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार ही समझता है तथा मनुष्य की पहचान बनाने से पहले वह अपनी पहचान और स्वर्ग बना लेना चाहता है। मैं अक्सर कहता हूँ कि साहित्य की दुनिया में प्रगतिशील लेखन की यह सबसे बड़ी प्रामाणिकता है कि वह पिछले 51 वर्षों से हमारे देश में एक ही विचार संस्था के रूप में कार्यरत है। अनेक उतार-चढ़ावों के बाद भी इस आन्दोलन से देश का अधिकांश और शीर्षस्थ रचनाकार जुड़ा हुआ है। अपितु एक आन्दोलन से गुजरकर यहाँ लेखकों को जबरदस्त मान्यता, आदर और परिभाषाएँ मिली हैं। साहित्य में दिलचस्पी और दखल रखने वालों को इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि जीवन में व्यक्तिवादी रुझानों और प्रयासों की क्या शामत है। साहित्य में नई-नई संस्थाएँ बनाने की यह बीमारी दरअसल में साहित्य के सामूहिक प्रभाव और उद्देश्य को समाप्त कर रही है तथा यह भी एक कारण है कि आजादी के बाद लेखकों ने अपना जनाधार खो दिया है। आजादी से पूर्व लेखकों की एक दिशा थी कि हमें देश को अंग्रेजों से मुक्त कराना है और अपना लोकतन्त्र बनाना है। इसीलिए लाखों नर-नारी लेखकों की रचनाओं को सुनते, पढ़ते और गाते थे। लेकिन आजादी के बाद लेखकीय बिखराव ने और लोकतन्त्र को हथियाकर उसे व्यक्तिगत शक्ल देने की महत्वाकांक्षा ने लेखकों की सामाजिक और राजनैतिक शक्ति को तोड़ दिया है। आज लेखक से अधिक तो पत्रकार जनता के दुःख-दर्द में भागीदार है। जन-संचार के माध्यमों के पीछे लेखक दौड़ रहे हैं। लेकिन यह दौड़ इसलिये भी नहीं है कि वहाँ घुसकर कोई लेखक जनता को उठायेगा—बल्कि यह भेड़ियाधसान भी इसीलिये है कि वह किसी न किसी तरह पैसा कमाये, पहचान का प्रभामण्डल बनाये और हाथी घोड़ा पालकी की संस्कृति का पोषण करे। लेखकों में व्यक्तिवाद का यह नजरिया—आत्म-हत्या का प्रयास मात्र है। विचार से, समस्याओं से, प्रलोभनों से और प्रचार से बचना तथा हवा-सुगंधा खाते हुए मानवीय सच्चाई के लिए लगभग आज कितनों को नसीब है? बल्कि सामाजिक उद्देश्यों [illegible] तो यह व्यक्तिगत टकसालों के खोटे

सेठजी के यहाँ शादी पर दूल्हा-दुल्हन की प्रशस्ति में काव्यपाठ करने वाले, पशु मेलों में शराब पीकर मंच से कामुकतापूर्ण गीत पढ़ने वाले, अजन्मे सम्पादकों के सामने घंटों दीन-हीन अवस्था में बैठकर एक रचना छपवाने वाले, अकादमी अध्यक्षों के आगमन पर रेलवे स्टेशन पर माला, जलेबी, कचोरी लेकर जाने वाले, अज्ञानी प्रसारण अधिकारियों से कार्यक्रम पाने के लिए उनकी बकरी बन जाने वाले, तबादले से बचने के लिए स्थानीय विधायकों के पर्चे बांटने वाले, सेठों, संतो और मुनियों के ग्रन्थों की समीक्षा, सम्पादन और प्रूफ रीडिंग करने वाले, नौकरी पाने के लिए विभागाध्यक्ष के घर पर गायें दुहने और कपड़े इस्तरी करने वाले, दो रुपये रोज में कापियाँ जाचकर भ्रष्ट पाठ्यक्रम समिति संयोजकों और सदस्यों की खड़ाऊ उठाने वाले, प्रकाशक को पैसे देकर पुस्तकें छपवाने वाले, प्रेमिका के लिए पहले गीत लिख-कर और फिर मुकदमे चलाकर भटकने वाले, पिछड़े इलाकों से कोडियों के भाव पांडुलिपियाँ खरीदकर अपने नाम से छपवाने वाले, दूसरो की कविता-कहानी चुराने-वाले, भूमिका लिखवाकर और पुस्तक समर्पण करके सम्बन्ध बढ़ाने वाले, पुस्तकें बिकवाने के लिए अफसरो की हाथाजोड़ी करने वाले और छोटी-छोटी बातों पर अपने घटिया अहम् का प्रदर्शन करने वाले—दुनिया की निगाह मे लेखक तो क्या साहित्य की पूंछ भी नहीं हो सकते। यह व्यक्तिवाद, डर, संशय, भय, (जिसे वे लोग अपनी चतुराई समझते है) पहले उनके मनुष्य को गुलाम बनाता है ताकि उनकी बुद्धि को फिर बंधुवा मजदूर बनाया जा सके। अपनी-अपनी बही खोलकर देखिये कि आप में से कितनों ने सत्ता-व्यवस्था के विरोध में घाव खाये है, बच्चों को भूखा रखा है, नगे पांव सड़कें नापी हैं? यदि यह सब कुछ नहीं है तो आप लेखक के नाते कौन-सी भूमिका निभा रहे हैं? फिर यह तेवर कौन-सा ओढ़ रखा है आपने। शेर की खाल में भेड़िये हम कब तक बने रहेंगे? लोग इतने लाचार क्यो हैं, प्रतिक्रिया-हीन क्यो हैं, कोई भी साहित्य उनमें हल-चल पैदा क्यों नही करता, कोई भी मौसम उन पर बोलता क्यों नहीं है। मैं हर बार यह मानता हूँ कि पहले मनुष्य और समाज के लिये खोना सीखिये क्योंकि समाज हर सूरत मे खोने वाले दलित से ही प्यार करता है। ऐसी बहुत-सी बातें मेरे मन को विचलित करती रहती हैं। मैं लेखक के नाम पर साहित्य में प्रदूषण फैलाने वाले इन बिना रीढ़ की हड्डी वालों से बार-बार यही कहता हूँ कि आपके होने की सार्थकता—यह प्रचार, पुरस्कार, प्रकाशन, जोड़-तोड़ और कुर्सी आन्दोलन नही है, अपितु आपका होना—मानव समाज की सम्पूर्णता का होना है।

साहित्य को कुटीर उद्योगों मे बदलने वाली पंजीकृत गली-मोहल्लों की आधी बंद पड़ी संस्थाओं को अच्छा हो आप समय रहते विचारधारा की गंगा में प्रवाहित कर दें, वरना थोड़े समय बाद यह पूँजीवादी व्यवस्था ही इन छोटी-छोटी मस्थाओं की तख्तियों को उखाड़ फैंकेगी। लेखकों की कमर पर और साहित्य के हृदय पर

लगातार पड़ रही साम्प्रदायिकता, परमाणुवाद, आर्थिक अपराधवाद और विघटन की चोट से मैं बेहद आहत हूँ और यही प्रयास चाहता हूँ कि लेखक पहले अपने भीतर देखे और फिर अपने सृजन की आम जनता में कोई सार्थकता तलाश करें। यदि लेखक ही आपस में एक दूसरे पर शातिराना हमले करेंगे और तेजाब के बल्ब फेंकेंगे तो मनुष्य और साहित्य का क्या होगा? यदि आप यह सब करते हैं तो— फिर कोई अपनी विचारधारा, कार्यक्रम, लक्ष्य और जन पक्षधरता का रचना ससार बताइये। अपने को ही चतुर मानना और उपयोगिता को बढ़ाना—भला एक वहम है हमारा, जो किसी को लेखक तो बना ही नहीं सकता।

21-5-1987

भ्रम से बाहर आइए

अभी पिछले दिनों जयपुर में युवा कहानीकार सत्यनारायण के कहानी संग्रह 'फटी जेब से एक दिन' का विमोचन करते हुए प्रसिद्ध कथाकार और हंस (मासिक) के संपादक राजेन्द्र यादव ने कहा कि हमारा लेखक पाठकों की दुनिया से धीरे-धीरे निर्वासित होता जा रहा है। लेखक की भाषा शिल्प, कथ्य और सुनियोजित प्रचार भी उसे आम पाठकों से जोड़ने में असफल हो गया है तथा एक बहुत सीमित लड़ाई लड़ते-लड़ते लेखक की जुबान लड़खड़ा रही है।

लेखक और पाठक की यह बढ़ती दूरी महज राजेन्द्र यादव की ही पीड़ा का विषय नहीं है अपितु उन सबकी असफलता का ऐलान है जो लेखक कम है और लेखक का नाटक ज्यादा करते है। हमारे यहां प्रेमचन्द रवीन्द्र नाथ और शरतचन्द्र को छोड़कर शायद ही कोई लेखक है जो एक साथ तीन पीढ़ियों की स्मृति में जीता हो। कुछ लोगों को यह भ्रम है कि वे फिल्मों के लिये अथवा दूरदर्शन के लिये लिखकर लेखक के रूप में भारतीय मनीषा में जीवित रह पायेंगे अथवा कुछ सम्पन्न लेखक छोटी-मोटी पत्र-पत्रिकाओं का संपादन करके साहित्य की वैतरणी पार कर लेंगे।

लेखकों की इस सार्वजनिक विदाई के कई कारण हैं। स्वनामधन्य सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' भी सारी उम्र यही नहीं समझ पाये कि साहित्य का आम जनता से क्या रिश्ता है। यही कारण था कि वे जब धरती पर अपना हवामहल नहीं बना सके तो उन्होंने मरने से पूर्व एक-एक पेड़ पर काठ का हवामहल बनवाया। लेखक की यह त्रासदी हम लोग जितनी जल्दी समझेंगे [illegible] उतना ही

भला हमारे लेखक का होगा। आज भी अनेक लेखक इस भ्रमजाल में फंसे हैं कि कुआ एक दिन खुद प्यासे के पास आकर पानी पिलायेगा। वस्तुतः लेखक को पाठक से तोड़ने के पीछे लेखकों की खुद की जिम्मेदारी का लंबा इतिहास है।

आपको नाम भी पता है। हमारे दो आदरणीय कवि लम्बे समय तक हिन्दी और हिन्दी क्षेत्र के अग्रणी रचनाकार रहे थे। आजादी के आन्दोलन में इनकी कवितायें स्कूल के बच्चे सामूहिक रूप से गाते थे। लेकिन हिन्दी प्रदेशों के बाहर इन दोनो को बहुत कम जाना जाता था। ऐसे कुछ व्यक्ति भक्तों की सेना ने इन दोनों को राष्ट्रकवि घोषित कर दिया और इन दोनो को भी यह बात समझ में आ गयी कि वे वास्तव मे ही राष्ट्रकवि हैं। भला राष्ट्र का मतलब हिन्दी साहित्य ही तो नहीं होता।

इसी तरह एक लेखक ने जीवन के प्रारंभ में सेना की नौकरी की और कुछ अच्छे उपन्यास लिखे। लेकिन इस लेखक का रूप परिवर्तन जिस व्यक्तिवाद में हुआ उसे यहां के अभिजात्य वर्ग ने सबसे अधिक अखबारी आदर दिया तथा कुछ भटके हुए समाजवादियों ने उन्हे अपने भण्डे का प्रतीक बनाकर इस तरह उछाला कि वे जीवनभर साहित्य की भव्य ऊंचाइयों के नाम पर आडंबर और आत्ममुग्धता में फसे रहे। यही कारण हुआ कि उनके शिष्यों ने उन्हें साहित्य मे एक भगवान का रूप देने की चेष्टा की लेकिन उन्हें यह विश्वास नही था कि भगवान भी एक दिन मरता है। जब लेखक को हम भगवान बना देते हैं तो वह फिर भगवान ही रहता है और लेखक नहीं रह पाता। क्या यह किसी लेखक का काम है कि वह नदी में एक पाव पर खड़ा होकर अपने शिष्यों के बीच कविता पाठ करे अथवा खुद को नोबल पुरस्कार मिलने की संभावनाओं को प्रसारित करे। लेखक की इस भीतरी जटिलता के कारण ही वह अपने बनाये भ्रमजाल मे खुद ही उलझ जाता है।

ऐसी ही एक सृष्टि की परिकल्पना प्रायः कई दूसरी तरह के लेखक भी करते आये हैं, जिसमें पश्चिम के लेखकों, विचारकों और सुधारकों के नाम गिना-गिनाकर अपने आप को बहुत ज्ञाता साबित करने की होड़ लगी रहती है। निर्मल वर्मा और श्रीकान्त वर्मा जब बहुत समय तक बाहर ही बाहर देखते रहे तो फिर भीतर के लोगों ने उन्हे देखना बन्द कर दिया। नतीजा वही हुआ कि लोग इन्हें बन्द घरो में ही जानने लगे। इनमे से श्रीकांत वर्मा का भ्रम तो मृत्यु से पहले टूटने लग गया था और निर्मल वर्मा का भ्रम अब राम जन्म भूमि के माध्यम से पुनः लौटकर भारत की धरती पर आने लगा।

कुछ ऐसा ही प्रयास एक अन्य लेखक ने किया कि प्रेमचन्द उनके सर्वाधिक निकट साक्षी थे तथा प्रेमचन्द पर वे ही एक अधिकारी प्रवक्ता हैं। प्रेमचन्द को

ानने की मान्यता पहनकर ये वर्षों तक प्रेमचन्द की जड़ें खोदते रहे तथा आखिर मे
ी डा. कमल किशोर गोयनका जैसे शार्टकट से चर्चा में आने वाले शोधकर्ता की
ायना से प्रेमचन्द पर सूदखोर, कर्जदार, दहेज देने वाला और धनलोभी होने का
ारोप भी लगा बैठे। लेकिन इस पूरी कसरत का नतीजा क्या हुआ? प्रेमचन्द
पनी जगह वटवृक्ष की तरह खड़े है और वह लेखक जीवन के अन्तिम क्षणों मे
ारतीय ज्ञानपीठ के पुरस्कार का इन्तजार कर रहे है।

अब एक उदाहरण नामजद कृष्णा सोबती की अकादमी पुरस्कार प्राप्त पुस्तक 'जिन्दगीनामा' और अमृता प्रीतम की पुस्तक 'हरदत्त का जिन्दगीनामा' को लेकर। इस बात का मुकदमा कृष्णा सोबती ने उच्च न्यायालय मे दायर किया कि अमृता प्रीतम ने मेरी पुस्तक की प्रसिद्धि पर अपनी पुस्तक का नाम भी वैसा ही रख लिया है। वहरहाल कृष्णा सोबती का भ्रम टूट गया और वे मुकदमा हार गयी।

मेरा तात्पर्य इन प्रसंगो से यह कहना मात्र है कि जब लेखक अपने सृजन से हटकर यश प्रचार, मठवाद और ईर्ष्या-द्वेष का भ्रम-संसार अपने इर्दगिर्द गढ लेता है तो वह समाज और पाठक की आवश्यकता और महत्त्व को भूल जाता है। परिणाम यही होता है कि लेखक आम जनता से कट जाता है और महज बुद्धि विलास का अनुगामी बन जाता है।

कई लेखको मे एक बात यह भी देखने मे आती है कि वे पढते बहुत कम हैं तथा ऐसा भी मानते हैं कि औरो को पढने से खुद की मौलिकता नष्ट हो जायेगी। आज अस्सी प्रतिशत लेखक और कवि ऐसी स्थूल बुद्धि के है जो अपनी कविता, कहानी को जीवन भर सुनाते-सुनाते भी उस रचना की पृष्ठभूमि, दर्शन, उद्देश्य और विशिष्टतायें हमे नही बता पाते। इनके लिये साहित्य भी एक बागवानी जैसा शौक है। जैसे कोई कपड़ा फाड़ता-फाड़ता, तुरपाई करता-करता और बखिया उधेड़ता-उधेड़ता अच्छा टेलर मास्टर बन जाता है वैसे ही कई भावुक मन के लोग जोडते-तोड़ते कविता कहानी गढने लग जाते हैं। इसी कारण अस्सी पुस्तकें प्रकाशित करवाकर भी वे लेखक नही बन पाते, जबकि चद्रधर शर्मा गुलेरी 'उसने कहा था' जैसी एक कहानी लिखकर भी अमर हो जाते हैं।

अनेक लेखको मे एक भेड चाल यह भी घुस गयी है कि वह मानवीय संवेदना का चितेरा है। नौकरी, पत्नी, प्रेमिका, शोषण और निराशा की चौखट में वह इस तरह फिट हो गया है कि उससे बाहर ही नही आना चाहता। आजादी के बाद की कविता, कहानी और उपन्यास पर एक नजर डालकर देखें तो आपको अहसास होगा कि हमारे लेखकों का अनुभव संसार कितना सीमित है। मध्यमवर्ग की कुण्ठायें, प्रतिस्पर्धायें, दुतर संबधो का दुख और बेरोजगारी का आक्रोश ही उनकी रचनाओं

सहित पहुँचाता है।) से ज्यादा इस लेखक के बारे में कोई नहीं जानता। जब अकादमी लेखक और दंगलबाज आलोचक को उसकी गली मोहल्ले के लोग ही जानते-पढ़ते नहीं हों तो फिर भला आम पाठक उन्हें कैसे पहचानेगा। कभी इस बात पर तो विचार करिये कि आज भी लोग प्रेमचन्द, रवीन्द्रनाथ, शरतचन्द्र, बंकिमचन्द्र, देवीप्रसाद खत्री, सदात हसन मंटो, जैसे लेखकों को पाठकों का अभाव क्यों नहीं सताता? नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, अमृता प्रीतम, विष्णु प्रभाकर, भीष्म साहनी, और इससे पहले के भगवती चरण वर्मा, वृन्दावन लाल वर्मा, जयशंकर प्रसाद, निराला, काजी नजरुल इस्लाम को पाठकों की कमी क्यों नहीं नजर आती?

अतः आप इस भ्रम से बाहर आइये और लिखने से पहले ही खुद को लेखक घोषित करने की बीमारी से बचिये। जनता के दुःख-दर्द से आँखें मूँदकर भला कोई लेखक बन सका है? विचारधारा की समझ के बिना भला कोई लेखक सही सलामत ठीक-ठिकाने पहुँचा है? यह प्रसंग तो एक ध्यानाकर्षण है क्योंकि आज से पचास वर्ष बाद शायद हमारे चारों तरफ किताबें ही किताबें होंगी पर कोई लेखक नहीं होगा।

अब अंत में एक प्रश्न जो कुछ तिलमिलाये लेखक मुझसे कर सकते हैं उसका भी खुलासा कर दूँ। कुछ लेखक यह तर्क देते हैं कि हमारे यहाँ गुलशन नंदा, राजहंस, ओमप्रकाश और वेद प्रकाश काम्बोज जैसे लेखकों को रस्ते चलते और बस में लाखों पाठक पढ़ते हैं तो इसका अर्थ यह थोड़े ही हुआ कि यह सभी समाज के आदरणीय लेखक हैं। यह तर्क सही है और मैं इन लेखकों को साहित्य और पाठक की चिंता और जिम्मेदारी का विषय भी नहीं मानता। किन्तु मैं उन लेखकों से यह पाठकीय अपेक्षा अवश्य करूँगा जो सुबह से शाम तक साहित्य के दलिद्दरों में अपनी रामनामी ओढ़े पुरस्कारों के तमगे लटकाये घूम रहे हैं। आखिरकार आम जनता इन्हें मजबूरन नहीं तो आंशिक रूप में पढ़े। आखिरकार जनता को पढ़ने के लिये कोई सरकारी अध्यादेश तो निकाला नहीं जा सकता। इसके लिये तो लेखक को मनुष्य, समाज, गंदगी, गरीबी और असमानता की सड़कों में कलम लेकर बड़ी धूनी रमानी ही होगी। यदि ऐसा नहीं हो पाता है तो फिर लेखक को पाठक के लिये तरसना पड़ेगा और मान्यता तथा पहचान के बगैर साहित्यिक भ्रम भी बुनने पड़ेंगे।

23-4-1987

का केन्द्र बिन्दु बन गया है। समीक्षा यह है कि अस्सी करोड़ की जनता वाले गरीब देश में पाठकों की पसन्द लेखक की बुनियाद बहुत पोची और सतही नजर आती है। आज का लेखक प्रकृति के बारे में, विज्ञान के बारे में मनुष्य के मनोविज्ञान के बारे में तथा स्थितियों के तार्किक विश्लेषण के बारे में बहुत कम जानकारी रखता है। 27 प्रतिशत साक्षरों के देश में बारीक प्रतीकों की कविताएँ और छोटी-छोटी परेशानियों की तथाकथित महाभारत रचकर यह सोचता है कि उसने दुनिया को मन्त्रमुग्ध बना दिया है। यह सारा आवरण और बरसाती प्रवाह वस्तुतः उसे संपूर्ण मनुष्य के विकास और सामाजिक सोच से नहीं जोड़ता और जिस तरह बरसात का अधिकांश पानी बेकार बह जाता है एक लेखक का अधिकांश समय ऐसे ही अन्तर्ज्ञान के प्रमाद में बीत जाता है।

साहित्य के नाम पर और लेखक के नाम पर इस हवा को बिगाड़ने का बहुत सारा काम उन गैर साहित्यकार लोगों ने भी किया है जो प्रचार-प्रसार और जन-सम्पर्क के असरदार माध्यमों में घुसपैठ कर गये हैं। ये पत्रिकाओं के बौने सम्पादक और प्रतिष्ठानों के कुण्ठित साहित्य अधिकारी इस बात में ही आनन्द लेते हैं कि सारे लेखक उनकी टेबल पर आकर नाक रगड़ते हैं। यही दशा उन अकादमियों के तिकड़मबाज अध्यक्षों और सचिवों की है जो साहित्य में अपने पद और प्रतिष्ठानगत धन को निज की स्थापना और चर्चा का माध्यम बनाकर काम करते हैं। इस सारी अराजकता और आपाधापी का परिणाम लेखकों में गंदी राजनीति और लाभ उठाने की गैर साहित्यिक होड़ को जन्म देता है। आखिरकार इस प्रपंच का शिकार खुद वह लेखक ही होता है जो हर बात पर यह कहता रहता है कि मुझे सब मालूम है। बच्चों को पढ़ाते-पढ़ाते मेरे बाल सफेद हो गये हैं।

साहित्य के भीतर यह प्रवृत्ति कितनी घातक है, इसका अंदाज लेखकों को अब होने लगा है। लेखक को अपने पाठक खोजने पड़ रहे हैं और पाठक को अपने लेखकों की तलाश है। यह प्रश्न न तो विश्वविद्यालय के प्राध्यापक लेखक तय कर सकते है और न ही बड़ी नौकरियाँ और बड़े प्रकाशक दिखाने वाले साहित्यगुरु तय कर सकते हैं। साहित्य में भ्रमों की तलाश लेखकों को खुद करनी होगी तथा यह भी खुद ही तय करना पड़ेगा कि वह लेखक बनना चाहते है या आत्ममुग्ध नायिका। सृजन की साधना को नजरअंदाज करके तो हमे यही कहना पड़ेगा कि हम ऐसे लेखक है, जिनके पाठक नहीं है।

आज अकादमियों से पुरस्कार पाने वाले लेखक की पुस्तक बाजार मे दिखाई नहीं देती है और पुरस्कार घोषित होने पर थोड़े बहुत पढ़े-लिखे लोग भी जिज्ञासा से यह पूछते है कि यह कौन साहब है? इन लेखकों के बारे में एक समाचार पत्र से प्राप्त जानकारी (यह जानकारी भी समाचार पत्र को स्वयं वह लेखक अपनी फोटो

सहित पहुँचाता है।) से ज्यादा इस लेखक के बारे में कोई नहीं जानता। जब अकादमी लेखक और दंगलबाज आलोचक को उसकी गली मोहल्ले के लोग ही जानते-पहचानते नहीं हों तो फिर भला आम पाठक उन्हें कैसे पहचानेगा। कभी इस बात पर तो विचार कीजिये कि आज भी लोग प्रेमचन्द, रवीन्द्रनाथ, शरतचन्द्र, बंकिमचन्द्र, देवीप्रसाद खत्री, सदात हसन मंटो, जैसे लेखकों को पाठकों का अभाव क्यों नहीं मनाता? नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, अमृता प्रीतम, विष्णु प्रभाकर, भीष्म साहनी, और इससे पहले के भगवती चरण वर्मा, वृन्दावन लाल वर्मा, जयशंकर प्रसाद, निराला, काजी नजरुल इस्लाम को पाठकों की कमी क्यों नहीं नजर आती?

अतः आप इस भ्रम से बाहर आइये और लिखने से पहले ही खुद को लेखक घोषित करने की बीमारी से बचिये। जनता के दुःख-दर्द से आंखें मूंदकर भला कोई लेखक बन सका है? विचारधारा की समझ के बिना भला कोई लेखक सही सलामत ठौर-ठिकाने पहुँचा है? यह प्रसंग तो एक ध्यानाकर्षण है क्योंकि आज से पचास वर्ष बाद शायद हमारे चारों तरफ किताबें ही किताबें होंगी पर कोई लेखक नहीं होगा।

अब अन्त में एक प्रश्न जो कुछ तिलमिलाये लेखक मुझसे कर सकते हैं उसका भी खुलासा कर दूं। कुछ लेखक यह तर्क देते हैं कि हमारे यहां गुलशन नंदा, राज-हंस, ओमप्रकाश और वेद प्रकाश काम्बोज जैसे लेखकों को रस्ते चलते और बस में लाखों पाठक पढ़ते हैं तो इसका अर्थ यह थोड़े ही हुआ कि यह सभी समाज के आदरणीय लेखक हैं। यह तर्क सही है और मैं इन लेखकों को साहित्य और पाठक की चिंता और जिम्मेदारी का विषय भी नहीं मानता। किन्तु मैं उन लेखकों से यह पाठकीय अपेक्षा अवश्य करूंगा जो सुबह से शाम तक साहित्य के गलियारों में अपनी रामनामी ओढ़े पुरस्कारों के तमगे लटकाये घूम रहे हैं। आखिरकार आम जनता इन्हें सम्पूर्ण नहीं तो आंशिक रूप में पढ़े। आखिरकार जनता को पढ़ने के लिये कोई सरकारी अध्यादेश तो निकाला नहीं जा सकता। इसके लिये तो लेखक को मनुष्य, समाज, गदगी, गरीबी और असमानता की सड़कों में कलम लेकर वर्षों धूनी रमानी ही होगी। यदि ऐसा नहीं हो पाता है तो फिर लेखक को पाठक के लिये तरसना पड़ेगा और मान्यता तथा पहचान के बगैर साहित्यिक भ्रम भी बुनने पड़ेंगे।

23-4-1987

जंगल की आग

राजस्थान साहित्य अकादमी के गत दिनों उदयपुर में आयोजित सम्मान समारोह में मुख्य अतिथि पद से बोलते हुए सुखाड़िया विश्वविद्यालय के कुलपति ने लेखकों को सलाह दी कि वे जीवन में समझौतावादी नहीं बनें। इस छोटी-सी पंक्ति से मैं अपनी अवधारणा प्रस्तुत करना चाहूंगा, क्योंकि लेखकों को विभिन्न अवसरों पर इस तरह के ब्रह्म उपदेश प्राय: बड़े नेता, अधिकारी और पदाधिकारी देते रहते हैं।

मैं यह जानने की कोशिश कर रहा हूं कि साहित्य में समझौतों की क्या भूमिका है और कौन-सी सीमाएं हैं। राजस्थान में विशेषकर समझौतों के बीज कौन बो रहा है और उससे लहलहाई फसल यहां कौन काट रहा है। क्योंकि समझौते की आदत मनुष्य की स्थिति और आकांक्षा से उत्पन्न समीकरण है। अत: जीवन और जगत के सभी क्षेत्रों में ऐसे व्यक्ति मिल जायेंगे जो साहित्य से पहले समझौते की ओर ध्यान देते हैं। साहित्य में समझौतो की राजनीति और अर्थशास्त्र को अवसर संस्थान और आर्थिक साधनों वाले या प्रचार-पहचान देने वाले संगठन एवं सम्पर्क आगे बढ़ाते हैं।

राजस्थान में लेखकों को सबसे अधिक आर्थिक सुविधाएं अक्सर सरकारी अकादमियों से प्राप्त होती है क्योंकि इनके अलावा यहां कोई ऐसा माई का लाल नहीं है जो पांच पैसे भी लेखकों के लिए अथवा साहित्य के लिए खर्च कर सके। यही कारण है कि लेखक भी जंगल के इस नखलिस्तान की ओर प्राय: मान-मर्यादा और विचार छोड़कर भागता रहता है। बहुत कम लेखक होते हैं या वास्तविक लेखक होते हैं जो आर्थिक-सामाजिक प्रलोभनों को नकारते हुए स्वतन्त्र माध्यमों से अपने लेखक का सम्मान बनाये रखते हैं। इसमें विचारधारा से प्रतिबद्ध लेखक भी कई-कई बार एक कमजोर और सांसारिक प्राणी बनकर इन संस्थानों के प्रांगण में कुलांचें भरने लगते हैं। राजस्थान का लेखक भी प्राय: समय की वे सभी विसंगतियां बर्दाश्त करता है जो अन्य प्रांतों में हैं क्योंकि देश में व्याप्त सामाजिक-आर्थिक एवं राजनैतिक हालात का असर प्राय: सभी जगह असर डालता है।

मैं इसी संदर्भ में कहना चाहूंगा कि—लेखक अकेला यह समझौते की राज-[illegible]ति नहीं करता अपितु आर्थिक संस्थान भी उसे यह गुरुमंत्र सिखाते हैं और लेखक [illegible] का लाभ उठाते हैं। राजस्थान में इसी मायाजाल के अतर्गत या तो जीवन भर उपेक्षित रहता है या फिर जीवन भर जोड़-तोड़ करता हुआ लेखक के भ्रम को ओढ़े रहता है। आजकल संस्थानो के लोग दिवंगत और शरीर से [illegible] लेखकों के घर के सामने शामियाना लगाकर [illegible] कहने लगे हैं कि

प्रकादमी—लेखक के लिये बनी है तथा लेखक प्रकादमी के लिये नहीं बना है तथा प्रकादमी लेखक के दरवाजे पर जाकर उसका अभिनंदन करती है। यह भोली-भाली शब्दावली उन नासमझों के लिये आकर्षक हो सकती है जिन्होंने साहित्य के व्यवस्थागत ठाकुरद्वारे नहीं देखे हों लेकिन जो लेखक इस हरी कीर्तन मे खड़तालें बजा चुके हैं वे जानते हैं कि इस तथाकथित जन्नत की हकीकत क्या है। मैं अपनी बात के लिये कुछ उदाहरण भी दूंगा लेकिन यह उम्मीद करूंगा कि लेखक साथी उसे निष्पक्ष भाव से समझेंगे। मेरी चर्चा का उद्देश्य किसी को नीचा दिखाना कभी नहीं होता अपितु स्थितियों में सुधार के लिये होता है। यह भी सच है कि—लेखक ही आज की इस भीषण-भ्रष्ट व्यवस्था मे बहती नदी के किनारे सूखे पेड की तरह जल रहा है तथा बार-बार अपने सपनों को गिनता हुआ समाज के दु:ख-दर्द की कविता और कहानी लिख रहा है। मैं लेखक को कभी भी समझौतावादी नहीं मानता। हां उसकी भीतरी कमजोरी उसे कई बार मोर्चे बदलने के लिए विवश अवश्य बना देती है। उसे साहित्य मे व्याप्त अराजकता और अंधी दौड का मुकाबला करने के लिए कई-कई बार स्वर और विचार बदलने पडते हैं। यह मजबूरी मूलत: किसी लेखक की नहीं होती अपितु इस शोषण और प्रपंच मे भरी व्यवस्था की ही उपज है। इस दुनिया मे आज जितने भी वर्ग कलम के बल पर शब्दों का ससार बनाते हैं उन सब मे आज भी लेखक ही सबसे पहले विपक्ष की भूमिका निभाता है तथा सच्चाई से झूंठ को उजागर करता है।

किन्तु कुछ छोटे-छोटे भटकाव इस तरह आते हैं कि उससे लेखक वर्ग की सामूहिक शक्ति नहीं बन पाती। जैसे लेखक की एक मनुष्य की तरह ही स्वभावत: यह कमजोरी होती है कि उसे सब जानें, मानें और पहचानें प्रसिद्धि का सूर्य उन पर चमके तथा सत्ता और समाज उसके स्वागत मे पलक पावडे बिछाये यह लेखक की मनुष्यगत इच्छा है कि वह फटेहाल भले ही बना रहे लेकिन उसकी मस्ती को गढ़ और हवेलियां भी सलाम करें। साहित्यकारो की यह श्रद्धा मनुष्य इतिहास की पुरानी परम्परा है जिसमें लेखकों ने अपनी आन-बान के लिये दुनिया का समस्त वैभव छोड दिया और सत्ता-लक्ष्मी से सदैव ठुकराये गये।

अतः समझौतों की शुरुआत इस मौजूदा व्यवस्था में हर बार उनकी तरफ से ही होती है जो कि साधनयुक्त हैं और संस्थान प्रधान हैं। ऐसे मे यदि कोई छुटभैया लेखक किसी संस्थान का प्रमुख बन जाता है तो वह फिर लेखकों में आपसी-कलह और जोड़-तोड़ अधिक मचाता है क्योंकि उस संस्थानधारी छोटे लेखक का अहम् बहुत विराट होता है। उसकी भी तो यही इच्छा होती है कि साहित्य की रेलगाडी मे बैठने के लिये हर कोई पहले उनके बुकिंग-घर से टिकट खरीदे। छोटे-छोटे सपनो का यह भ्रम वैसे तो साहित्य और सरस्वती की समस्या और विचार का विषय नहीं

है, लेकिन यह लेन-देन से बड़े बनने की प्रवृत्ति साहित्य-जगत में प्रदूषण अवश्य फैलाती है।

आप राजस्थान की सबसे पुरानी और व्यापक साहित्य अकादमी पर नजर डाले। इस संस्था की दर्जन भर उपसमितियों मे 70–80 छोटे मोटे योग्य-अयोग्य लेखक हैंगर पर टाग दिये जाते हैं, 20–25 को शाल-दुशाले का सम्मान और पांच-सात को पुरस्कार दे दिया जाता है। ये कुशल कारीगर की तरह कभी प्रगतिशील को, कभी जनवादी को तो कभी कलावादी लेखक को पुरस्कार पकड़ा देते हैं। और तो और वर्ष में डेढ सौ-दो सौ लेखक पत्रिका मे छापे जाते है, दर्जन-दो-दर्जन लेखकों को पांडुलिपि सहायता, चिकित्सा सहायता, फैलोशिप और दूसरे खातों से पत्र-पुष्पम् दे दिया जाता है। इसके साथ ही पाठकमच, आचलिक समारोह, राज्य सम्मेलन और अनेक गोष्ठियो आदि मे पत्र वाचन, अध्यक्षता, मुख्य अतिथि, सयोजन तथा उद्घाटन के सौभाग्य से उपकृत बना दिया जाता है। बहरहाल यह समझिये कि राज्य के अढाई-तीन सौ लेखको मे सभी तक साहित्य-गगा का जल थोड़ा-थोड़ा पहुंच जाता है। इस प्रक्रिया मे सभी खुश हो जाते हैं और सभी ठगे रह जाते है। लेखकों के महत्वाकांक्षी मनोविज्ञान को समझकर बनायी गयी इस व्यवस्था प्रधान कार्यनीति से लेखकों की मानसिक नसबंदी हो जाती है तथा इस बदरबांट का विरोध करने वाले शेष बचे लेखको को यह प्रणाली बड़े आराम से नकारते हुए अपनी समयावधि की गोटिया सेंकती रहती है। यह क्रम निरन्तर जारी रहता है और साहित्यकार एक दफ्तर में बदल जाता है।

मैं इस तांत्रिक प्रणाली को इस वर्तमान दौर का हथियार मानता हूं तथा यही प्रयास करता हूं कि लेखक साथी इस सीलन से बचें और अपने विचारो एवं स्थापनाओं को तात्कालिक आकर्षणों से भोथरा नही होने दें। यह भी सच है कि इतने जागरुक और विवेकशील लेखक भी कम ही होते है जो बात कहते हुए अपने अलफाज नही निगलते। पराभव की इस आन्तरिक प्रक्रिया को ही हम आगे चलकर समझौते का रूप देते हैं, क्योंकि जो लेखक संस्थानों की सौ-पाच सौ रुपये की मार मे ही ढीला पड जाये वह सामाजिक-आर्थिक एवं राजनैतिक परिवर्तन की अट्ठारह महाभारत को भला कैसे लड़ेगा ? मैं लेखक की इस दयनीयता और विचारहीनता को ही उसकी सबसे बड़ी असफलता समझता हूं क्योंकि लेखक की पहली शर्त है कि उसकी रीढ की हड्डी मजबूत हो। वह किसी संस्थान-प्रतिष्ठान पर जादू की तरह चढ़-बोले न कि संस्थान उसकी गरदन पर सवार हो जाये। यह लेखक की नामर्दी वह विचारधारा प्रधान मच पर तो नेता, सेठ और अफसर की मौजूदगी महयोग का विरोध करता है लेकिन संस्थानो के मच पर वह मत्री, दानवीर ... अधिकारियों, पुलिस अधिकारियो से दाम मूंदकर उद्घाटन, समा-... प्रदर्शनी विमोचन के भाषण सुनता रहता है। ... संस्थान बुद्ध समका

की लाचारी हो सकती है। लेकिन मैं इसे साहित्य की लाचारी नहीं मानता। मैं तो यह भी नहीं कहता कि लेखक लोग लंगोट पहन लें, नौकरियां छोड़ दें या राजनीति से रिश्ता तोड़ दें। लेकिन मैं ऐसा जरूर मानता हूं कि लेखक हर चुनौती के बीच नष्ट होने की स्थिति में भी सच्चाई का साथ दे और साफ-साफ शब्दों में दे। ये नहीं कि वह ऐसी बारीक दो तार वाली सूत कातने लग जाय कि जिससे घर भी जलता रहे और पानी भी बरसता रहे। अन्ततोगत्वा इस दुश्चक्र में अन्तिम नुकसान साहित्य चेतना और स्वतन्त्रता का ही होता है।

साहित्यकार और समझौता, इन दोनों की वैसे एक ही राशि है लेकिन इन दोनों का स्वभाव एक दूसरे के विपरीत रहना ही लेखक को जीवित रखता है। जो लोग व्यक्तियों की उपयोगिता से, संस्थाओं की बजट प्रणाली से जुड़े रहते हैं वे कभी भी प्रबुद्ध लेखक और वास्तविक लेखक नहीं बन सकते। क्योंकि हमारे बीच ऐसे अनेक लेखक हैं जो इन [illegible] के स्थाई ग्राहक और दरबारी हैं। हर सभा-सम्मेलन जिसकी पेट पूजा से शुरू होता है। लेकिन यह भी सच है कि [illegible] कवि-लेखक अपनी गर्मी में ही इस मोह देते हैं।

साहित्य में ठाकुरवाद, कायस्थवाद, ब्राह्मणवाद, अकादमीवाद, धर्मवाद, नगरवाद, शिष्यवाद और प्राध्यापकवाद फैला हो तब भला समाजवाद, प्रगतिवाद और जनवाद यहां कैसे पनपेगा। इसीलिये साहित्य में मूल्यों और वैचारिक जनमुक्ति के संघर्ष को ये संस्थान बराबर समझौतों से रोकने की चेष्टा करते है। लेकिन आप और वे सब सुनलें कि जंगल में लगी आग को समझौतों के शाल, दुशाले और कम्बलों से नही बुझाया जा सकता। जो लोग समझौतो से साहित्यिक संस्थाओं के पद पाते है उनकी नियति ऐसी ही है जो न घर का होता है और न घाट का !

अब अंत में पढ़िये मेरी एक छोटी-सी कविता—पवन चक्की :—

मैं क्या हूं
मैं तो एक पवन चक्की हूं,
मेरे तो पंख भी निष्प्राण हैं,
हवा ही मुझे चलाती है,
और मैं—
हवा को बिजली बनाता हूं।

26-3-1987

मैं चुप कैसे रहूं

आजादी के बाद हमारी सबसे बड़ी यातनाभरी पहेली 'साम्प्रदायिकता' है। हमने इसे जितना सुलझाना चाहा यह उतनी ही उलझती गई। और तो और अब लोगबाग साम्प्रदायिकता विरोध को भी मात्र सरकारी प्रचार मानकर इसकी मखौल उडाने लगे हैं। किसी भी विवेकशील भारतीय नागरिक के लिये इससे बड़ी शर्म की बात क्या होगी कि साम्प्रदायिकता अब हमारा जीवन-दर्शन बन गई है। हम जातियों में विभाजित कबीलों की तरह आखिरकार अपने अस्तित्व की लड़ाई में घनघोर साम्प्रदायिक बन जाते हैं। धर्मनिरपेक्षता में सबको अपने धर्म और आस्था के प्रति काम करने की छूट है लेकिन व्यावहारिक तौर से हम आखिरी हथियार के [illegible] में साम्प्रदायिकता को ही इस्तेमाल करते हैं। आजादी के बाद हम साम्प्रदा- [illegible] के गुलाम बन गये हैं तथा धर्म निरपेक्षता के झंडे के नीचे हमने सगाकार [illegible] और उसके मूल अवशेष, जातीयता को सींचा है।

हो सकता है मेरा कथन आपको ठेस पहुंचाये लेकिन यह भी सच है मेरे शब्द, हम देश की नस-नस में फैल रही साम्प्रदायिकता से ज्यादा बुरे नहीं हैं। हम साम्प्रदायिकता के लिये कभी राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ को, कभी जमात-ए-इस्लामी को, कभी मुस्लिम लीग तो कभी आनन्द मार्ग को कोसते हैं, लेकिन यह भूल जाते है कि इन संगठनों के जन्म की ऐतिहासिक परम्परा क्या है ? वह कौनसा भय है जो इन संगठनों को जन्म देता है ? वह हमारी कौन-सी कमजोरी है जो विदेशी ताकतों को हमारे घर में घुसने का रास्ता देती है ? वह कौन-सी सियासत है जो हमें जातीय और फिर साम्प्रदायिक बनाती है ? आज धर्म निरपेक्षता का अर्थ है अपने-अपने स्वार्थों के लिये साम्प्रदायिक संगठनों की ताकत बनाओ। आज लोकतन्त्र का अर्थ है, अपनी ताकत (शाम, दाम, दण्ड, भेद से) के बल पर राज्य सत्ता पर कब्जा करो तो आज समाजवाद का अर्थ है देश की जनता को असमानता और शोषण की चक्की में पीसते रहो। मैं मानता हूँ कि संविधान निर्माताओं का यह सब मूल्य तय करने का मकसद एक आदर्श एवं कल्याणकारी राज्य था लेकिन आपको यह भी मानना पड़ेगा कि हमने अपने संविधान की द्रोपदी का कदम-कदम पर चीरहरण किया है। मुझे यह बात गहरी पीड़ा से एक लेखक के नाते सुबह से शाम तक महसूस होती है कि हम अपने को बचाने के लिये दूसरों का हत्याकांड मचाए हुए हैं।

साम्प्रदायिकता कोई खिलौना नहीं है जिसे सियासत में बैठा हर आदमी जब चाहे तब बजाने लग जाय। यह तो एक पशुता है जो हमारे भीतर हजारों वर्षों से दफन पड़ी थी, तथा हमने उसे कब्रिस्तान से निकालकर अब हर गली, चौराहे और मोहल्ले में खड़ा कर दिया है। अब अजान के लिये लाउडस्पीकर चाहिए, हरीकीर्तन के लिये ढाल-धमाके चाहिएँ, अब गुरवाणी के लिये रेडियो स्टेशन चाहिए तो अब गिरजाघर की कैरोल (भक्ति संगीत) के लिये घंटे घड़ियाल चाहिएँ। आजादी के बाद हम जितने असुरक्षित हुए हैं, उतने पहले कभी नहीं थे। या यों कहे कि आजादी पाने के बाद हम सबसे ज्यादा गैरजिम्मेदार, व्यक्तिवादी और वर्गवादी बन गये हैं।

मुझे तो हंसी आती है कि—आखिर यह पागलपन हमारे देश में अचानक कहां से आ गया है ? आप भी विचार करें कि साम्प्रदायिकता की महामारी हमें किस देश से संक्रामक रोग के रूप में मिली है ? मैं तो ऐसा मानता हूँ कि साम्प्रदायिकता हमारी मध्यकालीन सामन्तवादी संस्कृति और सोच का ही तार्किक परिणाम है। हमें जैसे ही यह समझ में आने लगा कि हम भी कुछ है तो हम सबसे पहले जाति और सम्प्रदाय के बिल में घुसकर शेरों की तरह दहाड़ने लगे। अपने परिवार में बच्चों की संख्या इसलिये बढ़ाने लगे कि यदि हमारी गिनती बढ़ गई तो हम अपने अधिकारों के लिये लड़ सकेंगे और एक न एक दिन राज्य तंत्र पर भी हमारा ही झंडा लहरायेगा। असल में हमारी साम्प्रदायिकता की जड़ें हमारे जातीय संस्कारों

मे हैं तथा यही जातीय वर्ण-व्यवस्था हमारे भीतर दूसरों के प्रति-नफरत, प्रतिशोध और दमन की भावना को जन्म देती है।

मुझे आये दिन अच्छे खासे लोग यह कहते मिलते हैं कि—देखिये ! हमारी जाति का तो एक भी मन्त्री नही है इस मन्त्रीमण्डल में। कोई कहता है कि महावीर जी के मेले की तो रेडियो रिपोर्ट प्रसारित होती है, ख्वाजा के उर्स की रिपोर्ट प्रसारित होती है लेकिन नाथद्वारा, बेणेश्वर, जामोत्री और रामदेवजी के लक्खी मेले पर कोई दो शब्द भी हमें नही बोलने देता। लोग कहते है कि उच्च न्यायालय मे हमारी पिछड़ी जाति का तो एक भी जज नहीं है। लोग बताते हैं कि साहब शिक्षा विभाग में तो बनियो का राज है तो कोई फरमाते हैं कि पिछड़ी जाति का एक भी व्यक्ति आज तक यहाँ पुलिस का महानिदेशक नहीं बना। और तो और लोग यह भी कहते हैं कि अजी काहे का लोकतन्त्र है, यहाँ एक भी बड़ा अखबार किसी मुसलमान, सिख या दलित जाति वाले के पास नही है। यह कुछ संकेत बताते हैं कि हमारे सोचने की धारा क्या है ? निश्चित रूप से साम्प्रदायिकता की जड़ें जातीय असमानताओं में हैं तो जातीय जड़ें हमारी सामाजिक-आर्थिक असमानताओं में हैं। हम साम्प्रदायिकता की बीमारी का इलाज सम्मेलन, भाषण, पोस्टर, शांति-मार्च, साइकिल यात्रा और पदयात्राओं से कभी नही कर सकते। क्योंकि असमानता ने हम सबको एक दूसरे के प्रति खूंखार और असहिष्णु बना दिया है। आजादी के प्रारम्भ मे हमे हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता की सजा मिली तो आजादी के बाद हमें हिन्दू-सिख साम्प्रदायिकता का प्रसाद मिला है। अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम, नागालैण्ड तथा केरल राज्यों को भीतर से समझने पर पता चलेगा कि हम ईसाई साम्प्रदायिकता की झोली में पड़े हैं तो इसी तरह बड़े शहरों में छोटी-छोटी शिव सेना, आदिम सेना और न जाने कौन कौन-सी सेनाएँ हमारी जान को आफत रही हैं। हमारी इतनी बुरी हालत है कि ज्यों-ज्यों दवा करते हैं मर्ज बढ़ता जाता है। रजिस्टर्ड संस्थाएँ बना बनाकर कोई जैनियों को संगठित कर रहा है, त राजपूतों को, तो कोई ब्राह्मणों को, तो कोई और सम्प्रदाय की बुनियाद पर लड़ता है। बड़े-बड़े राजनैतिक दल इन जाति और सम्प्रदायो से समझौता करते तथा 20वीं शताब्दी मे भी 15वी शताब्दी के कानून पास करते जाते हैं। यह सा खुलासा हमारी मानसिक साम्प्रदायिकता का परिणाम है जिसे अगर यदि मन नहीं निकाल पाये तो शायद समाज से भी नहीं निकाल पायेंगे। जाति, सम्प्रदा धर्म और राजनीति की भाग पूरे कुए मे गिरी हुई है तथा अनेक मुनि-मन्त्रियो के सा मौलवी-विश्व इस्लाम बैंक के साथ, दलित-जनजातियों को बहरहाल भारतीयता अपना कोई नहीं देखता। सबके हाथ मे अपने-अपने गोत्र और नामो की जाम-प है तथा अब यहां माथुर-शर्मा क्रिकेट प्रतियोगिताएँ होने लगी हैं तो रामजन्म भू और बाबरी मस्जिद की 100 गज जमीन पर राष्ट्र को लहूम-लहूम करने घोषणाएँ होने लगी है। आजादी का सिंहावलोकन इससे बढ़कर क्या होगा ?

गणतन्त्र दिवस के बहिष्कार की राजनैतिक शतरंज को लोग लाल किले पर बैठकर खेल रहे हैं। जातियों के नाम स्कूल, कॉलेज, अस्पताल, सड़कें, मन्दिर, मस्जिद, प्रसाधालय और धर्मशालाएँ बनायी जा रही हैं। हर व्यक्ति पैदा होते ही एक जाति और सम्प्रदाय की तख्ती अपने गले में लटका कर खड़ा हो जाता है तथा वार्ड और मोहल्ले के चुनावों में लेकर संसद के चुनाव तक जाति मुख्यपन्थी—आतंकवाद के साथ, पादरी-अन्तर्राष्ट्रीय चर्च राजनीति के साथ ग्रामसभाओं में मेल-मिलाप कर रहे हैं। गरीब और अशिक्षित जनता पर एक तरफ तो जाति-सम्प्रदाय के कट्टर-पंथियों की तलवारें चल रही हैं तो दूसरी तरफ सियासत की साम्प्रदायिकता की तोपों के गोले रोज भाषण और दुरभिसंधियों के रूप में बरस रहे हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि धर्मनिरपेक्षता के अन्तर्गत अपनी ढपली बजाते-बजाते व्यक्ति, दूसरे की ढपली को अपनी साधना में बाधक मानने लगता है तथा उसकी इच्छा होती है कि यह दुनिया केवल मेरा संगीत ही सुने, मुझे ही देखे-निहारे और सराहे। आत्म-मुग्ध नायिका जिस तरह दूसरी नायिकाओं से जलन रखती है उसी तरह एक जाति और सम्प्रदाय भी दूसरे सम्प्रदाय से अपने को श्रेष्ठ कहलाने के लिये सारे पाप और कुटिलताएँ करता है।

मैं नहीं जानता कि सभा सम्मेलन करने से साम्प्रदायिक डाकुओं का हृदय परिवर्तन हो जायेगा। मैं यह भी नहीं मानता कि सामाजिक और आर्थिक शोषण और गुलामी को बढ़ाते-बढ़ाते हम स्वर्ग की सीढ़ियाँ चढ़ जायेंगे। मुझे तो यह भी विश्वास नहीं है कि चतुर्मास करने वाले नेता, मंदिरों की कमाई से बस कम्पनियाँ चलाने वाले और फिल्में बनवाने वाले पुजारी, औरतों को बुर्कों में लपेटकर रखने वाले काजी और इमाम, स्वर्णमन्दिर को खालिस्तान की राजधानी बनवाने वाले ग्रन्थी साहिबान और नगे महावीर को सोने-चांदी से पूजने वाले आखिरकार—साम्प्रदायिकता को भूल जायेंगे। यह देश अब जातियों और सम्प्रदायों में बांट दिया गया है। चुनाव क्षेत्र में तकसीम हो गया है, पक्ष-विपक्ष की क्षेत्रीयता में उलझा दिया गया है और तो और यहाँ खुले आम साम्प्रदायिक दंगे करवाने वाले चुनाव जीतते हैं, बन्द करवाते हैं, और हजारों बेगुनाहों को मारकर भी मूछों पर ताव देते हुए राजपथ पर चहलकदमी करते हैं।

वस्तुतः यह प्रसंग बहुत-बहुत उलझा हुआ है तथा इसे और अधिक उलझाने में सभी तथाकथित राष्ट्रभक्तों को मजा आ रहा है। शिक्षा से लेकर भिक्षा तक के कार्यक्रम भी हमारे यहाँ जाति और सम्प्रदाय पर आधारित हैं। अदालतें भी जाति और सम्प्रदाय के वकील और न्यायाधीशों में बंट जाती हैं। प्रशासन तो तहसील से लेकर राज्य सचिवालय तक जातीय धनुषबाण ताने ही रहता है। हम आपको कैसे बतायें कि साम्प्रदायिकता का विरोध करने वाले ही आज यहाँ भीतरी तौर पर साम्प्रदायिकता से सहवास करते रहते हैं।

हम इस खुले खेल पर मौन रहते हैं और चाहते हैं कि साम्प्रदायिकता मिट जाये ? मेरे हुजूर ! आप इस खूबसूरत धोखे में भले ही रहिए लेकिन गरीब जनता अब इस धोखे को समझने लगी है। प्रधानमन्त्री ने संसद में खुलकर कहा कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एक साम्प्रदायिक संगठन है लेकिन किसी ने इस महत्वपूर्ण बात पर जनता में खुलकर बहस नहीं छेड़ी। और तो और हमारे यहाँ तो राम जन्मभूमि का आन्दोलन चलाने वाली विश्व हिन्दू परिषद की राज्य कार्यकारिणी के सदस्य राजस्थानी अकादमी के अध्यक्ष बना दिये गये हैं। फिर यदि मुस्लिम लीग का आदमी उर्दू-अकादमी का अध्यक्ष बनना चाहे तो कौन-सी बुरी बात है ? राजस्थान मे मणिहारी, सांडेराव, सोजत, गंगापुर सिटी, ब्यावर, पाली आदि में पिछले साल साम्प्रदायिकता भड़काई गई लेकिन मुकदमा चला ब्यावर के लेखक चांद मोहम्मद पर। यह सब तमाशा कौन करता है, इसकी जानकारी आप हममे नही वहाँ की जनता से जाकर पूछिये। हम में से कौन वहाँ गया था और किसने अपराधियों को आज तक सजा दिलवाई है ? आज भी अनेक स्कूलों के प्रांगण में हिन्दू राष्ट्रवाद की परेड होती है, मदरसों में पाकिस्तान के नक्शे बनाये जाते हैं और गुरुद्वारों में इंदिरा गांधी और राजीव गांधी को गालियाँ दी जाती हैं। हम में से किसकी हिम्मत है जो बिल्ली के गले में घंटी बांधे ?

साम्प्रदायिकता कोई भोली-भाली जादूगरनी नहीं है। यह तो हमारी ही आरजू से आबाद मोहब्बत है, जिसे हम छोड भी नहीं सकते और निगल भी नही सकते। पाठ्यक्रम बदलने से और राष्ट्रगान बदलने से साम्प्रदायिकता कभी नहीं मरती। साम्प्रदायिकता से वास्तव मे निजात पाना चाहते हैं तो पहले जनता को असमानता के शोषण की चक्की से बाहर निकालिये।

19-3-1987

लगातार बिगड़ते हुए

ज्ञान के क्षेत्र में साहित्य, संस्कृति एवं कला मेरे विचार का पहला केन्द्र बिन्दु है। मैं इस बात से बराबर चिंतित हूं कि इन सभी क्षेत्रों मे सरकार अथवा सत्ता व्यवस्था की दखल, भागीदारी भूमिका निरन्तर बढ़ती जा रही है। मैं इसे पूंजीवादी लोकतंत्र मे कोई शुभ चिन्ह नहीं मानता। लेकिन पूंजीवाद जैसे-जैसे विकसित हो[illegible] वह पहले-पहल करता है।

धीरे-धीरे मनुष्य इतना दीन, हीन, लाचार और इतना असहाय बन जाता है कि उसे अपना सब कुछ या तो भाग्य और भगवान पर छोड़ना पड़ता है या फिर सरकार माई-बाप पर। यही कुछ दशा पिछले 40 वर्षों में हम सबकी हो गयी है। सरकार और पूंजीवादी संस्थान साहित्य, संस्कृति और कला के क्षेत्र के गहरे तक जड़ें फैला चुके हैं तथा अब कहीं न कहीं लेखक, पत्रकार, कलाकार अथवा गुणी व्यक्ति अपने अस्तित्व की लड़ाई में इस सारे दुष्चक्र के हाथों मात्र उपभोक्ता सामग्री बन गया है।

कहने को हम चाहे जितना अपने आपको स्वतंत्र और साहसी बतायें लेकिन प्रायः हरेक की चोटी किसी न किसी के खूंटे से बंधी है। जो लोग बिना चोटी के हैं वे लोग भी इतने ढोंगी और विलासी हो गये हैं कि उनसे तो यह व्यवस्था और सत्ता भी घबराती है। जिस तरह पत्रकार, पुलिस और वेश्या का कोई चरित्र आज तक निश्चित नहीं हो पाया है उसी तरह बुद्धिजीवियों का भी कोई मापदंड और पहचान हमारे समाज में सर्वमान्य नहीं बन पाई है। इसी त्रासदी में देश की 70 प्रतिशत अनपढ़ और शोषित जनता या तो मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा अथवा गिरजाघर में सुबह-शाम चक्कर लगाती है या फिर थोड़ी बहुत हायतोबा मचाने के लिये किसी विधायक, सांसद, मंत्री अथवा राज्याधिकारी के दरवाजे खटखटाती है। जैसे-जैसे यह व्यवस्था का हरिकीर्तन तेज होता जाता है वैसे-वैसे ऊपरी लोकतंत्र मजबूत होता दिखायी देता है तथा भीतरी और वास्तविक लोकतंत्र समाप्त होने लगता है।

मेरी परेशानी यह नहीं है कि लोकतंत्र रहेगा या नहीं। मेरी आशंका तो यह है कि इस अराजकता में मनुष्य भी शेष बचेगा या नहीं क्योंकि हम आज और बातों के लिये भले ही चाहे जितना सोचते हों लेकिन यह तथ्य भी साफ है कि इस सारी महाभारत का पहला शिकार हमारे भीतर का मनुष्य ही है। इतिहास में दर्ज होने की महत्वाकांक्षा को लेकर चलने वाले अधिकांश घोषणा पुरुष अंततोगत्वा किसी हाशिये पर भी दूर-दूर तक नजर नहीं आते। ये सब महज किसी सेठ और सरकार के भद्रलोक में मरे हुये शेर की खाल की तरह मुंह फाड़ औंधे लटक जाते हैं। भ्रम का इतना विस्तार हमारे भीतर हो जाता है कि हम अपनी गली में भौंकते-भौंकते ही सवेरा होने पर पांव पसार कर निढाल हो जाते हैं। इसी मनुष्य दशा के लिये कबीर दास ने कहा था 'सुखिया सब संसार, खाये अरु सोये। दुखिया दास कबीर, जागे अरु रोवे।' कुछ लोगों के लिये यह भी संतोष की बात है कि ऐसी हालत आज से बहुत पहले कबीर के समय में भी थी तथा जब स्थिति आज तक नहीं बदली तो अब क्या बदलेगी? यहीं से फिर एक समझौता शुरू होता है और यथास्थिति-दर-यथास्थिति बनती चली जाती है।

ग्राम जनता का इस तरह पराभव में जीना और मरना ही मेरी दिक्कत का प्रामाणिक मुख्य प्रश्न है तथा मैं इसमें अपने भीतर और बाहर सभी स्तरों पर लगातार देखता, भोगता और टकराता हूँ। भला मैं उनकी क्या बात करूँ जो सत्ताधारियों से भूखे और अनपढ़ हैं? उनको किसी जिम्मेदारी से बांधना खुद को सभी जिम्मेदारियों से मुक्त करना है। ये तो इतने बेचारा हैं कि सरकार और लोकतन्त्र तो इनकी पचवर्षीय मोहर से चलता है लेकिन इनके चेहरे पर पांच साल में एक दिन भी खुशी दिखायी नही देती। धर्म, जाति, भाषा, राजकाज, देश-विदेश, मंडी-बाजार और तो और छोटीपना के अनेक राहु-केतु इन्हें जीते-जी चौरासी लाख नरक की यात्रा करवाते रहते हैं। इसी भौतिकवादी अन्तर्द्वन्द्व में मनुष्य सिमटकर महज एक मजाक और पहेली बन जाता है। यह इतनी घिनौनी शक्ल होती है कि मनुष्य अपना विज्ञापन तो कर सकता है लेकिन अपना असली चेहरा नही बता सकता। मनुष्य की दशा विज्ञापनों में झाग उगलते साबुन और हवा में लहराते कपड़ों जैसी हो जाती है, जिसे खरीददार नही मिलते, जबकि बिकने को सरेराह खड़ा है।

मूलतः यह जटिल स्थिति तब बनती है, जब मनुष्य अपनी साहित्य, संस्कृति एवं कलागत चेतना को खो देता है और दरअसल एक खिलौना बन जाता है। वह भी ऐसा खिलौना जिसे जो चाहे, जब चाहे आकर बजा सके। वह पांवों में बंधे उस घुंघरू की तरह हो जाता है, जिसका कोई अपना पांव (ठिकाना) नही होता लेकिन उसे जिस पाव से बांधा जाये बंधना पड़ता है। आपका सोच क्या है, मैं नही जानता लेकिन मेरा सोच तो यही बताता है कि जब तक हमें अपने मनुष्य होने का गौरव समझ में नही आयेगा तब तक हम 21वीं क्या 50वीं शताब्दी में भी लोकतन्त्र के चरणदास ही बने रहेंगे। किसी कम्प्यूटर, किसी अन्तर्देशीय मिसाईल, किसी स्टार-वार अथवा किसी आध्यात्मिक गणित से भी हम मुक्ति अथवा शांति नही पा सकेंगे। इस मृग मरीचिका ने हमारी जड़ें ही नष्ट कर दी है तथा रही-सही खाल भी समय के लुटेरे किसी भी क्षण उतार लेंगे। आखिरकार फिर वही आपाधापी की मंगल ध्वनि बजती रहेगी और हमारी मनुष्यगत आवश्यकताओं से सत्ता और पूँजी का माल बेचते हुए फेरी वाले मनचाही कीमत वसूल करते रहेंगे।

सोचता हूँ मैं लोकतन्त्र के हिमालय से उतरती इस वेगवान गंगा को अपने केशहीन सिर में कहां और कैसे बांध सकूँगा? जब मेरे कान पर दूसरो के दर्जे की जनेऊ बधी होगी, जब मेरे चेहरे पर दूसरो की दाढी चिपकी होगी, जब मेरे हाथ में दूसरे की कटार और कृपाण होगी तथा जब मेरे कंधे पर मेरा ही सलीब लटका होगा तब भला मैं अपनी जुएँ में हारी हुई द्रोपदी को कौन-सा पासा चलकर वापिस जीत सकूँगा? सभी दिशायें उत्तर जानते हुये भी भयभीत और मौन बनी हुई हैं तथा आजादी लाने वाले आजादी पाने वालों की कृपा के मोहताज बन गये हैं। अब यहाँ किसी को

गुस्सा नहीं आता। यदि गुस्सा किसी को आता भी है तो वह समर्थ को, सम्पन्न को, अथवा सम्पूर्णता से सुरक्षित व्यक्ति को ही आता है। गरीब तो अब केवल अपने अथवा अपनों के ही कपड़े फाड़ता है, गालियाँ देता है अथवा पुलिस और कोर्ट कचहरी करता है। इस भरपूर रामलीला में हम सब राम के वनवास पर सिसकियाँ भरकर रोते हैं और राम के अयोध्या लौटकर राज्य सिंहासन पर बैठने ही तालियाँ बजाने लगते हैं। मैं निश्चय ही इस महाकाव्य का पात्र नहीं हूँ तथा मैं तो एक ऐसे महादेश का नागरिक हूँ, जहाँ समाज को कबीर, रैदास शेखसादी, तुकाराम, दरिया साहब, रज्जब, दादू दयाल, मोइनुद्दीन चिश्ती, मीरा, नानक और सूरदास जैसे फकीर दलित और राजपाट त्यागकर वन-वन भटकते हुये जगाना चाहते हैं। मैं तो उनका साथी हूँ जिन्हें स्कूली पाठ्यक्रम जनता में नहीं ले जाते अपितु उनकी वाणी और कर्म किसी पाठ्यक्रम को गौरव प्रदान करते हैं। विवेकानन्द रामकृष्ण परमहंस, दयानंद, ईश्वरचन्द्र ठाकुर काजी नजरुल इस्लाम सुब्रमण्य भारती और प्रेमचन्द कभी किसी सत्ता और सेठ के पास अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में अनुदान का आवेदन लेकर नहीं गये थे, लेकिन ये सब आज भी जीवित हैं। आखिर ऐसा क्यों होता है और क्यों हुआ इसी का उत्तर आपको ढूँढना चाहिए। इतिहास बताता है कि कुछ सिरफिरे, दीवाने और धुन के धनी लोग ही समय की धारा को बदलते हैं। मनुष्य अपने मन में गंदगी को जीता तो है लेकिन गंदा पानी पीता नहीं है। मनुष्य सोना-चाँदी, रत्न-आभूषण, हीरे-जवाहरात के लिये सब कुछ भूलकर लूट खसोट तो करता है, लेकिन हीरे-जवाहरात को खाता नहीं है। मनुष्य सिंहासन पर बैठने की दौड़ तो लगाता है लेकिन सिंहासन पर चढ़कर शांति पाई नहीं जाता है। यह सारी पागल दौड़ ऊपरी है सतही है और मनुष्य विरोधी है। आज मुझे यह आश्चर्य कभी नहीं होता कि जो महावीर (तीर्थंकर) नग्न-धड़ंग व दिगम्बर थे, उनके सारे अनुयायी आज सबसे ज्यादा माया और संग्रह के दास हैं। अब मुझे यह बात अनहोनी नहीं लगती कि फाँसी की सजा दे सकने वाला न्यायाधीश किसी साधु-मुनि के पीछे पीछे नंगे पाँव पसीना पोंछते हुये चलता है। मुझे तो यह भी विचित्र बात नहीं लगती कि करोड़ों का तथाकथित भाग्य-विधाता चोरी-छिपे ज्योतिषियों को अपनी जन्मपत्री दिखाता है। मुझे यह भी अपवाद नहीं लगती कि किसी थाने में पुलिसवाला असहाय और अबला औरत से बलात्कार करे तथा अदालत से बरी हो जाये। वस्तुतः यह सारा खेल आज की दुनिया की सहज नियति है। क्योंकि व्यक्ति जब केवल अपने दुख-दर्द और सुख-सुविधा के लिये ही चिन्तित हो जाता है तब वह दूसरों के लिये उतना ही निश्चिन्त और विमुख हो जाता है। यह सीधा-सरल मनोविज्ञान केवल सम्पत्ति बनाता है अतः इस सम्पत्ति को पाने वाला जब मनुष्य के साहित्य, संस्कृति, कला विज्ञान और प्रकृति से अनभिज्ञ होता है तो वह यह सम्पत्ति, सत्ता एवं अधिकार उसे सबसे पहले पशु बना देते हैं।

देगा। उनका यह भी कहना था, कि यदि परिवर्तन के प्रारम्भ में पांच प्रतिशत विद्यार्थियों का नुकसान करके भी हम शेष 95 प्रतिशत विद्यार्थियों को सही दिशा की ओर ले जाने में सफल हो जाते है, तो यह हमारी राष्ट्रीय सफलता होगी तथा हमें नई शिक्षा नीति को इसी आशा के साथ स्वीकार करना चाहिये।

वस्तुतः हम पी. वी. नरसिम्हाराव को एक समन्वित एवं सुरक्षावादी दृष्टिकोण का प्रणेता मानते हैं, तथा उनके आशावाद में उनके भीतर बैठे एक लेखक की आवाज भी सुनते हैं। लेकिन जैसा कि उन्होंने खुद कहा कि हमें एक स्थिति और व्यवस्था के दबावों के बीच काम करना पड़ता है, तथा निर्णय लेने पड़ते हैं। ऐसी हालत में कई निर्णय अनुचित भी हो सकते है लेकिन आवश्यक भी नहीं होता कि एक समय का निर्णय सभी समय में सही और खरा उतरे।

मैंने इस बातचीत को आज की चर्चा का आधार भी इस लिए बना लिया कि मैं जनवाणी सुनने-देखने से कुछ समय पूर्व ही अजमेर में राजस्थान शिक्षक संघ के प्रांतीय सम्मेलन से लौटा था। वहां भी एक केन्द्रीय राज्यमंत्री की नई शिक्षा नीति पर सुना तथा अनेक शिक्षकों से भी नई शिक्षा नीति पर विचार करने का मौका मिला था। इस संदर्भ में अपने भीतर की लेखकीय आशावादिता और संभावना को ध्यान में रखकर मेरा मन भी उन बातों पर आपका ध्यान दिलाना चाहता है जिसे मानव संसाधन मंत्री ने स्थिति और सम-सामयिक दबावों का नाम दिया है।

मेरा अपना मानना है, कि नई शिक्षा नीति में सबसे पहली और अच्छी बात यह है, कि उसमें सरकार ने अब तक कि अपनी विफलताओं, सीमाओं एवं विरोधाभासों को खुलेतौर पर स्वीकार करते हुये एक नयी भारतीय शिक्षा प्रणाली का आधार खोजा है। मैं सामान्य ढंग से यह नहीं सोचता कि हमारे देश में सब कुछ गड़बड़ चल रहा है, अथवा अपने देश की अब तक की पूरी शिक्षा प्रणाली ही दोषपूर्ण है। मैं यह भी नहीं कहता कि हमने शिक्षा की उपेक्षा की है, तथा शिक्षा में कोई तरक्की नहीं की है। क्योंकि स्थितियों से लड़ने और उन्हें बदलने की जगह आज हर व्यक्ति स्थितियों पर दोषारोपण करके ही अपनी समझबूझ की इतिश्री समझ लेता है। आजादी के बाद हमारे भीतर यह बीमारी इतने गहरे घर कर गई कि हमें चारों तरफ पतन ही पतन दिखाई देने लगा है तथा हम अपने आप पर भी संदेह करने लगे हैं। हमारे सोच में तर्क और संतुलन की गति का अभाव है। नरसिम्हाराव जो भी सोचते हों, कहते हों, और आशा रखते हों यह उनका अपना विचारलोक है, लेकिन मैं उनकी रचनात्मक समझ की भी इस जटिल व्यवस्था में बनी हुयी सीमाओं को समझ सकता हूं। कारण यह कि देश के कुछ नागरिकों में भी यदि सुधार और परिवर्तन के खिलाफ यदि कोई गतिविधि चल रही है तो उसका कोई आधार, पृष्ठभूमि और प्रेरणाशक्ति रही होगी। कोई भी गड़बड़ व्यक्ति में आसमान से नहीं

उभरती तथा उसका जन्म एवं बीजारोपण अपने ही इस भले-बुरे समाज से होता है। यह बात भी सही है, कि हर व्यक्ति में कुछ सकारात्मक और कुछ नकारात्मक तत्व भी सदैव रहते हैं। लेकिन शिक्षा का पहला और प्राथमिक कार्य यही होता है, कि वह व्यक्ति के भीतर बैठे अंधेरे को, नकारात्मकता को तथा अज्ञान को मिटाने में सहायता करे। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को सम्पूर्ण गुणवान बनाने के माध्यम से समाज और देश को सर्वगुण एवं सर्व शक्ति सम्पन्न बनाना होता है। शिक्षा किसी व्यक्ति के विकास का एक साधन मात्र है, तथा अन्य बहुत सी बातों के साथ-साथ शिक्षा भी एक उसका आवश्यक तत्व है। अतः शिक्षा ही सब कुछ नहीं है, अपितु शिक्षा भी एक वैसा ही अस्त्र है जैसे कि अन्य कई अस्त्र होते है।

नई शिक्षा नीति पर विचार करते समय हम यदि नई शिक्षा को पूरी तरह भरोसे की बात मान भी लें तो हम इसके साथ चल रहे अन्य अस्त्रों को अथवा स्थितियों-परिस्थितियों को अनदेखा नहीं कर सकते। क्योंकि संविधान में समाजवाद, धर्म निरपेक्षता और लोकतंत्र का स्पष्ट प्रावधान और संकल्प होते हुये भी हमें आज कदम-कदम पर इन तीनों मान्यताओं की खिल्ली उड़ते हुये दिखाई देती है। इस स्थिति पर विचार करते हुये फिर हमारे सामने व्यक्ति और उसके भीतर छिपी नकारात्मकता एवं निहित स्वार्थ का सामना करना पड़ता है। तो हमें इन प्रवृत्तियों का सामना करने के लिये यह तय करना होगा, कि हम एक ऐसी शिक्षा प्रणाली स्वीकार करें, जो व्यक्ति को कम से कम समाजवाद, धर्म निरपेक्षता एवं लोकतंत्र का आदर्श तो बनाये।

इस बिन्दू पर ही मेरा मन यह सवाल करता है, कि क्या हम जो बात लिखकर मानते हैं, उसे आचरण में भी स्वीकार करते हैं ? जैसे आजकल इस बात पर बहुत बल दिया जा रहा है, कि शिक्षा को राजनीति से अलग रखा जाय तथा धर्म को राजनीति से अलग रखा जाय। लेकिन वस्तुस्थिति यह है, कि खुद नीति निर्धारण करने वाले नेता ही आज खुलेआम शिक्षा को राजनीति में डूबो रहे है तथा धर्म को राजनीति का मोहरा बना रहे है। यहां सारा काम जाति, धर्म, संप्रदाय और व्यक्तिगत लाभ-हानि के आधार पर तय होता है। देश के नीति-निर्माता सुबह से शाम तक मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे, गिरजाघर और विहारों में माथा टेकते फिरते है तथा उनकी इस लीला का जन संचार के माध्यम जमकर ढोल पीटते है। नतीजा यह होता है, कि अच्छी से अच्छी शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी विद्यार्थियों के मन में इस पोपलीला के प्रति आदर का भाव बन जाता है, तथा वे जीवनभर जाति, धर्म और संप्रदाय का हरिकीर्तन करते रहते है। राजनीति (चुनाव) के लिये धर्म की यह रामनामी ओढ़ने का यह लालच नई शिक्षा नीति किस तरह समाप्त करेगी, हमें इसका उत्तर अब ढूंढना ही पड़ेगा। हमें यह तय करना ही पड़ेगा, कि धर्म पर व्यक्ति-

आस्था का विषय है न कि सार्वजनिक प्रदर्शन, प्रतिष्ठा और चुनाव जीतने का माध्यम।

यह हमारे देश का पुराना दुर्भाग्य है, कि यहां वे सारी दुष्प्रवृत्तियां आसमान में छाई रहती हैं जो धरती पर कहीं नहीं होतीं। यहां खोटे सिक्के-अच्छे सिक्कों को बाजार से बाहर धकेल देते हैं। क्योंकि साधन और शक्ति का वर्चस्व उन चन्द लोगों के हाथों में है जो हर नई नीति को अपनी अनीति में बदल देते हैं। मेरा यह पक्का विश्वास है, कि हमारे देश में अब तक बहुत से अच्छे कानून, योजनाएं और प्रयासों के बावजूद भी मनुष्य की असमानता बढ़ी है, सामन्ती मनोवृत्ति-फैली है, पूंजी की समानान्तर सरकार बनी है, अपराधों की बेमिसाल दुनिया बसी है तथा भ्रष्टाचार का पुनर्जन्म होने लगा है। मुझे नई शिक्षा नीति में शिक्षा के निजी क्षेत्र में जारी रहने पर यह संदेह बढ़ता हुआ लगता है, कि हम साधनों के अभाव में शिक्षा को रोडवेज की अनुबन्धित बसों की तरह चलाते रहना चाहते हैं ताकि एक दिन सरकारी शिक्षा की यात्रा घाटे का सौदा बन जाये तथा निजी क्षेत्र की शिक्षा यात्रा मुनाफे की संस्कृति में बदल जाये। नई शिक्षा नीति यदि इस प्रश्न पर चुप है तो यह फिर तयशुदा बात है कि हम पूरे देश को एक उपभोक्ता सामग्री बनाने जा रहे हैं। शिक्षा के क्षेत्र को उद्योग की तरह चलाने का यह समानान्तर विचार नई शिक्षा नीति में मौजूद है। आप राजस्थान का ही उदाहरण लें यहां 45 प्रतिशत शिक्षा राजकीय क्षेत्र में है जबकि 55 प्रतिशत शिक्षा निजी व्यवसाय के क्षेत्र में है। आखिर हम किधर जाना चाहते हैं?

नई शिक्षा नीति के संदर्भ में यह सवाल भी बहुत महत्वपूर्ण है, कि हम भाषा के प्रश्न पर अंग्रेजी से अभी तक मुक्त होने का साहस क्यों नहीं दिखा पा रहे हैं? त्रिभाषा प्रणाली के नाम पर अंग्रेजी की अनिवार्यता निश्चय ही हमारी उपनिवेशवादी मानसिकता का ही परिचय देती है। यह तर्क दुनिया के विकासशील इतिहास में बेमानी और झूठ साबित हो चुका है, कि कोई देश अंग्रेजी सीखकर ही स्वर्ग में प्रवेश कर पायेगा, जिन भाषाओं की अवहेलना नई शिक्षा नीति में इसीलिए की गई, कि हमें अंग्रेजी को प्राथमिकता देनी है। अतः शिक्षा की भाषा के प्रश्न पर हमारी कमजोरी एक खतरनाक भूल है जिससे देश की संस्कृति और विरासत को भारी नुकसान होने का अंदेशा है। मानव संसाधन मंत्री की सदाशयता को समझते हुए हमें यह प्रश्न भी समझना पड़ेगा, कि 78 करोड़ की आबादी वाले देश को एक सूत्र में जोड़ने का आधारभूत क्या होगा? क्या यह पाठ्यक्रम एक धर्म रसायन होगा, जिसमें नैतिकता, अध्यात्म और चरित्र की कुलीन जड़ीबूटियां मिलाई जायेंगी? क्योंकि असमानता और शोषण भरे समाज में स्वतन्त्रता और परिवर्तन का लाभ हमारे यहां एक वर्ग विशेष को ही मिला है, आम जनता को नहीं।

नई शिक्षा नीति में प्रौढ़ और नव साक्षरों की शिक्षा का अलग प्रावधान एक व्यावहारिक प्रस्तावना है। यहां शिक्षा को रोजगार से जोड़ने की और नौकरी की डिग्री से अलग करने की बात भी वर्तमान परिस्थितियों में एक विकल्पहीन विकल्प है। इसी तरह स्त्री शिक्षा पर अधिक बल देना भी संतुलित विकास का अच्छा प्रयास है। लेकिन यह सारी कार्य प्रक्रिया हमारे दूसरे सामाजिक-आर्थिक विकास के कार्यक्रमों से कहां और कैसे जुड़ेगी इसका कोई स्पष्ट कार्यक्रम नई शिक्षा नीति में नहीं है। आज करोड़ों बच्चे इसीलिए पढ़ाई नहीं कर पाते कि उनके पास साधन नहीं है। लड़कियां इसलिए पढ़ाई में नहीं जाती कि वे सामाजिक रूढ़ियों और गरीबी की बाल मजदूरी और घर गृहस्थी की चक्की पीस रही हैं। अतः नई शिक्षा नीति का लाभ इस वर्ग को दिलाने के लिए यह आवश्यक होना चाहिये कि गरीबी और उससे जन्मी रूढ़ियां शिक्षा को पाने में बाधक नहीं बनें। नई शिक्षा नीति में प्राथमिक शिक्षा को उच्च शिक्षा से कम महत्व देना भी एक रणनीति की भूल ही है। क्योंकि बीज तो जमीन से उगेगा न कि आसमान से। नई शिक्षा नीति के संदर्भ में ऐसे अनेक सवाल हैं जो यह बताते हैं, कि इस नई शिक्षा नीति का असली दर्शन समाज में लम्बे समय तक असमानता, साम्प्रदायिकता, सामन्तवाद, और इन सब के निर्माता, पूंजीवाद के विरुद्ध जनसंघर्ष को लम्बे समय तक धीमी चाल से मार्च पास्ट करवाना है ताकि जनता को परिवर्तन का भ्रम भी बना रहे और एक देश का आजाद इतिहास अन्तर्राष्ट्रीय उपनिवेशवाद का गैरगाह भी बना रहे। इसके लिये वही एक मात्र रामबाण तर्क है, कि हमारे पास साधनों की कमी है।

"जनवाणी की बातचीत में और नई शिक्षा नीति के दस्तावेज से एक बात मानव संसाधन मंत्री ने बहुत अच्छी कही और वह यह कि नई शिक्षा नीति तो परिवर्तन की एक शुरूआत है। पूरे शरीर के कैंसर में एक अंग की चिकित्सा करना शिक्षा का काम है तो बाकी अंगों की चिकित्सा करने का भी हमें अलग से उपचार तैयार करना होगा। यह उपचार केवल सरकार नहीं कर सकती तथा जनता और प्रशासन को मिलकर इस लम्बे सफर को पार करना होगा। जो लोग नई शिक्षा-नीति को समाजवाद, धर्म निरपेक्षता और लोकतंत्र का केवल एक मात्र निदान समझ लेंगे उन्हें आगे चलकर निराशा हो सकती है। लेकिन यदि नई शिक्षा नीति को हम सही दिशा मे एक आंशिक पहलकदमी मानकर आगे बढ़ायेंगे तो शायद आने वाले कुछ वर्षों में परिवर्तन और सुधार की जटिल प्रक्रिया को तेज किया जा सकेगा। आखिर यह भी कौन सी बात है, कि हम 21वी शताब्दी में एक तयशुदा रीति-नीति के साथ प्रवेश कर रहे हैं ? भला हर नई नीति पर बहस करते हुये संदेह, निराशा, विरोध और अविश्वास को जन्म देना भी कोई हमारी अच्छी आदत तो नहीं कही जायेगी।

अब अंत में एक बात और कहूंगा कि नई शिक्षा नीति के अन्तर्गत शिक्षा प्रबन्ध के लिये वर्तमान बाबूछाप प्रणाली को भी बदलने का प्रयास होना जरूरी है।

आई. ए. एस. को और डी. पी. एस. अधिकारियों को शिक्षा-निदेशक-सचिव और उप कुलपति बनाना किसी विलक्षण व्यक्ति के संदर्भ में तो ठीक है लेकिन शिक्षा-शास्त्रियों को ही शिक्षा के प्रशासन और नीति-रीति निर्धारण का काम सौंपना दूरगामी रूप में अच्छा रहेगा। क्योंकि भारतीय प्रशासनिक सेवा को हम हर मर्ज की दवा मानकर बहुत कुछ परिणाम देख चुके हैं।

इसी तरह शिक्षा नीति के संदर्भ में शिक्षकों एवं शिक्षक संघों की भागीदारी और भूमिका पर भी जवाबदेहीपूर्ण एवं सम्मानपूर्ण रवैया हमें बनाना चाहिये। शिक्षातन्त्र में समस्याओं को शिक्षकों के सहयोग से ही दूर करना पड़ेगा। इसी तरह हर स्कूल के साथ अच्छे पुस्तकालय की आवश्यकता भी शिक्षा में चोली-दामन की तरह मानी जानी पड़ेगी। अब और विस्तार से इस शिक्षा जगत के समुद्र में गोता लगाइये क्योंकि देश की शिक्षा नीति पर एक स्तंभ भर में महर्षियों की तरह सूक्तियां प्रस्तुत करना भी कोई समझदारी की बात नहीं होगी। बस एक विश्वास का वातावरण हम बनायें ताकि नई शिक्षा को कहीं न कहीं समाजवाद और धर्म निरपेक्षता की लड़ाई का हिस्सा बनाया जा सके।

18-9-1986

कबहूं तो दीनदयाल के

आज मेरा मन राजस्थान के पुस्तक जगत की चर्चा करने का है। इतिहास के अनुसार यहां कभी सरस्वती बहती थी, किन्तु आज यहां थार का विशाल रेगिस्तान है। यह एक विडम्बना है कि राजस्थान में 17-18वीं शताब्दी तक जो कुछ लिखा गया, वह तो कालातीत बन गया, लेकिन जो आज लिखा जा रहा है, वह लेखक के घर के बाहर भी कोई नहीं जानता। यही कारण है कि शायद आज राजस्थान में जितनी पुस्तकें प्रकाशित होती हैं, उनमें अधिकांश पुस्तकें प्राचीन जैन और चारण कवियों की पाण्डुलिपियां ही सर्वाधिक हैं।

राजस्थान पुस्तक जगत का एक विचित्र प्रान्त है। यहां प्राचीन ज्ञान को अर्थशास्त्र का और समाजशास्त्र का अंग माना जाता है तथा समसामयिक को औपचारिकता की स्वीकृतिभर समझा जाता है। बूढ़े बडेरों और पितरों की सेवा में जीने वाले राजस्थान की मानसिकता आज यहां बाकायदा पंजीकृत अवस्था में संस्थाबद्ध है। यही कारण है कि प्राकृत, संस्कृत एवं राजस्थानी ग्रंथों के शोध एवं अनुसंधान के अनगिनत संस्थान धड़ाधड़ छापने में लगे हैं। इस पुस्तक प्रकाशन को

प्रतिष्ठा व राजस्थान के बड़े-बड़े सेठ और अधिकारी तथा मुनि-महात्मा और व्यापारी एकजुट होकर संगठित व्यवस्था से काम करते हैं। उनका कहना है कि मठ में क्या रखा है। इस संगठित पुस्तक जगत को सरकारी आशीर्वाद भी प्राप्त है, तो समाज के सह साहूकारों का भी समर्थन मिलता है। आज राजस्थान के अनेक जैन सम्प्रदाय प्राचीन जैनी पुस्तकें प्रकाशित कर रहे हैं तथा वे प्रकाशन विदेशी भाषाओं में अनुवाद होकर—मोटे कागजों देशों व मुल्कों में पहुँच रहे हैं। आम में इन प्रकाशनों को बहुत कम लोग जानते हैं तथा इनमें उदारतापूर्वक धन निजी संस्थाओं के द्वारा खर्च किया जाता है। अकेले तेरापंथ और स्थानकवासी समानान्तर सम्प्रदाय की पुस्तकें ही यहाँ प्रतिवर्ष इतनी छपती हैं कि राजस्थान सरकार का प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान भी इनके समक्ष तुच्छ और नगण्य है। समाज में इस प्राचीन पुस्तक उद्योग से जुड़े लोग यह मानते हैं कि इनके द्वारा इहलोक और परलोक दोनों ही सुधर जाते हैं तथा अज्ञानी, मतांध और पाखंडी मुनि भी गंभीर सेवा कार्य में रत ऐतिहासिक विद्वान मान लिये जाते हैं।

मुझे इन प्राचीन पाण्डुलिपियों के अनुवाद, संपादन और प्रकाशन कार्य से जुड़े हजारों लोगों से कोई शिकायत नहीं है, क्योंकि प्राचीन को सरक्षित करना भी हमारा दायित्व है। हाँ, इनमें भी वर्गभेद है। जितना विपुल साहित्य आज जैन धर्म के द्वारा प्रकाशित करवाया जा रहा है, उतना हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई धर्म नहीं करता, क्योंकि यहाँ सरस्वती और लक्ष्मी का संगम हो गया। मुनियों एवं जैनाचार्यों के ग्रंथ और सेठ-महाजनों का पैसा। मुनि और धर्मात्मा सेठ दोनों ही परम प्रसन्न हैं। अन्य धर्म सम्प्रदायों में यह समझ और सूझबूझ अभी रणनीति के तौर पर सामने नहीं आ सकी है। हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध आदि के साहित्य को यहाँ सस्ते मूल्य पर संपादित-अनुवादित करके कोई नहीं छापता। हाँ कुछ श्रद्धालू हैं, जो गीता, रामायण, कुरान, बाइबिल आदि को कौड़ियों के भाव पर पहुँचाने में जुटे हैं। लेकिन, यह किसी समाज के संपूर्ण ज्ञान का विस्तार और परिचय नहीं है, अपितु एक आस्था का ही सीमित प्रदर्शन है। मेरा तात्पर्य यहाँ भी यही है कि पुस्तक-जगत का यह भी स्वरूप है, जो राजस्थान में अपनी गहरी जड़ें रखता है। यह पुस्तक-प्रकाशन प्राचीन भारतीय विरासत के नाम पर विश्व उपनिवेशवाद के उन सूत्रों से भी भीतर ही भीतर जुड़ा हुआ है, जो सामाजिक आर्थिक परिवर्तन को रोकते हैं, तथा विज्ञान और मानवीय समानता को महत्वहीन एवं अप्रासंगिक ...नते हैं।

आज के पुस्तक-जगत मे सरकार की भूमिका तो खरीददार की है, लेकिन प्रकाशन का सारा काम निजी स्तर पर व्यवसाय एवं व्यक्तिगत प्रयासों के द्वारा ही होता है। प्रारम्भ में कुछ सरकारी प्रतिष्ठानों ने, अकादमी ने सीमित विषयों पर थोड़ी बहुत पुस्तकें छापी, लेकिन यह सब जल्दी ही घाटा खाकर मैदान छोड़ गये।

राज प्रांत में पुस्तक-जगत के मूलाधार के रूप में प्रकाशक, लेखक, व्यवसायी, खरीददार बहुत थोड़े से हैं। राज्य में कोई डेढ़ हजार पुस्तक व्यवसायी हैं तथा इनमें भी प्रकाशकों की संख्या तो 100-150 ही है। इन प्रकाशकों में भी सामान्य पुस्तकें (विभिन्न विषयों पर) छापने वाले और भी कम हैं। यह स्थिति इसलिए है कि प्रांत में पुस्तकों की बिक्री बहुत कम है। ले-देकर सारी पुस्तकें सरकारी पुस्तकालयों की अल्मारियों में बंद होने के लिए बेचैन नजर आती हैं, क्योंकि इसके बाहर आम पाठक का नितान्त अभाव है। प्रान्त में 27 प्रतिशत साक्षरता है, इसलिये पुस्तक पढ़कर समझने वाले तो यहाँ दो प्रतिशत भी नहीं हैं, अतः जो मुट्ठीभर प्रकाशक 'जनरल बुक्स' छापते भी हैं, वे साथ-साथ पाठ्यक्रम की पुस्तकें, कुंजियाँ और तथाकथित सहायक पुस्तकें भी छापते और बेचते हैं, ताकि रूखी रोटी पर घी तो लग सके।

इस मिश्रित प्रकाशन जगत को प्रान्त में अन्य राज्यों की तरह ही कम और ज्यादा एक लाभ-हानि का गोरख-धंधा बनाकर चलाया जाता है। जैसी कि एक गजल की पंक्ति है—**'बिकने को हैं तैयार खरीददार नहीं है।'** ठीक वैसे ही, यहाँ वर्ष में जो चार सौ पांच सौ पुस्तकें सामयिक और असामयिक विषयों पर प्रकाशित होती हैं, वे सरकारी पुस्तकालयों (स्कूल, कॉलेज मुख्यतः) में कमीशन की बाधा दौड़ पार करके ही पहुँच पाती हैं। जो जितना अधिक कमीशन दे सकता है, वह उतना ही सम्पन्न प्रकाशक होता है। कमीशन के इस समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र की झोली में प्रकाशक के साथ कई मुख्याध्यापक, महाविद्यालय प्राचार्य, पुस्तकालय प्रधान, विभागीय सचालक, पाठ्यक्रम समितियों के सदस्य जैसे अनेक गणमान्य लोग पड़े रहते हैं। यह सब मिल-जुलकर पुस्तक को सरकारी खरीद में डालते हैं तथा अपनी-अपनी दाल-रोटी का हिसाब चलाते रहते हैं। यह बात अब किसी से भी छिपी हुई नहीं है कि राजस्थान में अनेक भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी रातों-रात लेखक-प्रकाशक बन गये हैं, अनेक पाठ्यक्रम-समितियों के सदस्य किराये के मकान से निकलकर खुद का मकान बना चुके हैं तथा छोटी तनख्वा के लाइब्रेरियन और व्याख्याता प्राचार्य आदि अतिरिक्त आमदनी के चक्कर में फसे हुये हैं। यह सब कमीशन की कृपा है तथा पुस्तक तो इस सब में एक उपभोक्ता सामग्री है। ज्ञान, विज्ञान, सेवा और शिक्षण की भावना का इनसे कोई रिश्ता नहीं। जनरल बुक्स छापने वाले, टेक्स्ट बुक्स छापने वालों में अपने को तनिक श्रेष्ठ समझकर खुश हैं, लेकिन यह एक आत्म प्रवंचना है, जिसे कई रूपों में यहाँ का पुस्तक-जगत जीता और कमाता खाता है।

पुस्तक-जगत का एक सूत्र लेखक भी है। प्रकाशकों के मायाजाल से आतंकित लेखक और नामकर नया लेखक आत्म स्थापना एवं प्रचार के चक्कर में खुद अपना पेट काटकर पुस्तकें छापने लगा है। इसका उद्देश्य पुस्तक बेचना अथवा पाठक तक पहुँचाना नहीं होता, अपितु अपनी रचनाओं को पुस्तक रूप में देखना मात्र होता है।

मुझे ऐसे अनेक लेखकों का पता है जो पुस्तकें छपाकर घर की दुछत्ती (टाड) पर बरसों से धरे बैठे हैं। इनका कहना है कि 'कबहुँ तो दीनदयाल के भनक पड़ेगी कान।' कभी तो पाठक आयेगा ही।

इसके अतिरिक्त राजस्थान में पुस्तक प्रकाशन पर प्रकाशक, लेखक एव विक्रेता का कोई समन्वय अथवा सामूहिक सोच-विचार नहीं के बराबर है। सब अपनी-अपनी समझ से किसी लाभ देखकर मनचाहा छाप और बेच रहे हैं। इसका एक उदाहरण ही काफी होगा कि आज भी राजस्थान पर कोई 'सम्पूर्ण पुस्तक' हमारे सामने नहीं है। योजना, दृष्टि, विचार और व्यवहार की कोई रूप-रेखा सामने नही है। सरकार की नजर में भी यदि कोई सबसे अधिक उपेक्षित क्षेत्र है, तो वह पुस्तकों का है। यहाँ भी मछली पालन, मुर्गी पालन, भेड़ पालन, चारागाह, गोबर गैस आदि के विकास कार्यक्रमों पर तो चिंता रख कर करोड़ों रुपये खर्च किये जाते हैं, लेकिन पुस्तक विकास पर किसी का ध्यान नही जाता। ले-देकर भारत सरकार के निर्देश पर तीन वर्ष पूर्व एक राजस्थान पुस्तक विकास परिषद बनी थी, लेकिन वह भी बिना दांत और आंत वाली ऐसी कागजी संस्था है, जो अपने हाथ पैर तक नहीं हिला पा रही है। इसी तरह हिन्दी ग्रंथ अकादमी और प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, गजेटियर्स, पुरातत्व विभाग, अरबी-फारसी शोध संस्थान, सूचना एवं जनसम्पर्क निदेशालय भी पुस्तक प्रकाशन में निजी प्रकाशन उद्योग के सामने घुटने टेक चुके हैं।

राजस्थान में पुस्तक-जगत जैसा कहाँ है। 4 करोड की आबादी के लिये चालीस हजार तो छोड़िये, चार सौ पुस्तकालय भी यहाँ नहीं है। कुछ पढे लिखे लोग, जो खाने-पीने और पहनने के शौकीन हैं, वे पुस्तकें पढ़ने को अपना समय खराब करना मानते हैं, तो पाठक मंच जैसी कोई सामान्य व्यवस्था भी यहाँ नही है। जो थोडे से पुस्तकालय हैं, वहाँ पुरानी अप्रासंगिक और विषयविहीन थोड़ी सी पुस्तकें हैं, जिनके बीच में अपने टूटे सपने लिए एक लाइब्रेरियन बैठा है। न उसके पास समुचित बजट है और न ही कोई काम। पुस्तकों की चौकीदारी करते-करते वह भी अपने आप को असुरक्षित महसूस करने लगा है। अतः जब कभी भी मौका आये, उसे भी कमीशन की शरण मे जाना पड़ता है। आप आश्चर्य करेंगे कि यहाँ जनविकास की धुरी कहलाने वाली पचायत समितियाँ, पंचायतें, नगर परिषदें और नगर विकास न्यासों में, निगमों मे, सहकारी संस्थाओं में आवश्यक और समुचित पुस्तकालय तक नहीं हैं।

विभिन्न चयन समितियों की रपट विश्लेषण बताते हैं कि प्रांत के विद्यार्थी सामान्य ज्ञान बहुत दयनीय है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि विद्यार्थियों को ... और शिक्षण के प्रभावशाली माध्यम उपलब्ध नही है। मेरा तो यह अनुभव

है कि जिस-जिस के घर जाता हूँ, वहां इक्के-दुक्के ही ऐसे निकलते हैं, जिनके पास 10-20 अच्छी पुस्तकें दिखाई दें। रामजी की कृपा से उनके घर में सब कुछ है, पर पुस्तकें नहीं हैं। इसी तरह यहां बारहों महीने पर्व त्यौहार पर मिठाई, मालाएँ, गंध-सुगंध पर आदमी 200-500 रुपये खर्च कर देता है, लेकिन पुस्तकों पर एक पैसा खर्च नहीं करता। इस सबका सबसे बड़ा कारण यह भी है कि बड़ी आबादी अनपढ़ है और जो थोड़े बहुत साक्षर हैं भी, उनमें से बहुत थोड़े ही समझबूझ वाले हैं, तथा जो थोड़े से पेशेवर ज्ञानी हैं, उनमें से भी बहुत कम खरीदकर पढ़ते हैं। अतः सारे समीकरण का नतीजा आम पाठक को जीवित नहीं छोड़ता तथा पुस्तकों के लिये एकमात्र जीवित खरीददार यदि कोई बच पाता है, तो वह सरकारी खरीद है। इसलिये, पुस्तक-जगत का निर्माण सरकार के इर्दगिर्द कमीशन की ईंटों से होता है, जिसमें लेखक तो एक तगारी उठाने वाला मजदूर मात्र है।

खैर, यह जो कुछ जैसा भी है, हमें इससे निजात पाने के लिये एक बहुमुखी कार्यक्रम बनाना चाहिये। साक्षरता और शिक्षा का राष्ट्रीय योजनाओं में विकास के लिये सर्वप्रथम महत्व निर्धारित किया जाये तथा सरकार और जनता इसे मिलकर एक सामाजिक परिवर्तन का समसामयिक आन्दोलन बनाये। इसके साथ ही अनेक बातों के बीच कुछ बातें पहले तय कर ली जायें, ताकि पुस्तक-जगत अथवा पुस्तक समाज का हमारा दायित्व सार्थक ढंग से पूरा हो सके।

मेरा अनुरोध है कि (1) राजस्थान पुस्तक विकास परिषद को, जिसके उद्देश्य बहुत अच्छे हैं, एक सक्रिय और कानूनसम्मत, प्रभावशाली, नियमित कार्यशील संस्था का रूप दिया जाये, (2) प्रकाशन उद्योग को लघु उद्योग मानकर इसे बैंकों एवं दूसरी वित्तीय संस्थाओं से सहायता दी जाये, (3) राज्य की प्रत्येक पंचायत समिति, जिला परिषद, नगर परिषद जैसी नागरिक सेवा की संस्थाओं में बुनियादी पुस्तकालय बनाये जायें, (4) प्रान्त के हर जिला मुख्यालय पर पुस्तकालय भवन और सूचना केन्द्रों का समन्वित जाल बिछाया जाये, (5) शिक्षा, समाज-कल्याण, प्रौढ़ शिक्षा, पंचायत एवं विकास विभाग, अकादमियों आदि को पुस्तक-प्रकाशन और खरीद के लिए समन्वित इकाई बनाकर काम हो, (6) राज्य के हर जिले में चलते-फिरते पुस्तकालय रखे जायें, (7) पुस्तक प्रकाशन से पूर्व उसके कथानक, मुद्रण तथा दूसरी आवश्यकताओं के लिए पुस्तक विकास परिषद या अन्य कोई सर्वमान्य स्वायत्त संगठन बनाकर लेखक-प्रकाशक-विक्रेता को आचरणबद्ध बनाया जाये, (8) स्कूलों एवं कॉलेजों में पाठक मंच स्थापित हों, (9) *सरकारी खरीद को कमीशन के चक्र से निकालने के लिए स्पष्ट और न्यायसंगत क्रय समिति गठित हो,* (10) सार्वजनिक पुस्तकालयों की व्यवस्था के लिये 'पुस्तक निगम' बनाया जा सकता है, (11) पुस्तकों को अनुदान राशि (खादी के समान) देकर, कागज-मुद्रण की *केन्द्रीय अथवा सहकारी व्यवस्था बनाकर सस्ते से सस्ते दाम पर प्रकाशित किया*

जायें, (12) पुस्तकों के छोटे-छोटे जिलों केन्द्र गांव से लेकर शहरों तक पुस्तकालय-वाचनालयों की स्थापना के साथ जोड़कर चलाए जाएं तथा (13) विभिन्न स्तरों पर लेखक, प्रकाशक और पाठक के बीच समानता एवं विश्वास के सम्बन्ध बनाये जायें।

ऐसी और भी कई आवश्यक बातें हो सकती हैं, लेकिन इन सबके लिए यह आवश्यक है कि—पुस्तक को महज व्यापार का विषय नहीं बनाया जावे, अपितु उसे सामाजिक क्रांति का प्रतीक समझा जावे। इस देश में मुनाफे की संस्कृति से बचना बहुत कठिन काम है—अतः मेरे सुझाव भी तलवार की धार पर चलने के समान ही हैं। मैं नहीं चाहता कि लेखक, प्रकाशक, विक्रेता मनोट बाप से और पुस्तक-जगत की सेवा न छूट जाये, लेकिन इतना तो अनिवार्य होना ही चाहिये कि देश के श्रेष्ठ ज्ञान और सूचना को लेखक से पाठक तक पहुँचाने की प्रक्रिया को केवल मात्र एक निजी लाभ का उद्योग नहीं बनाया जावे। इस सारे काम के लिए राष्ट्रीय पुस्तक नीति के अन्तर्गत एक प्रान्तीय पुस्तक नीति अवश्य बनाई जानी चाहिये तथा इसका सीधा सम्बन्ध हमारी दैनिक शिक्षा नीति से रहना चाहिये। स्वायत्तता के नाम पर यहां संस्कृति भी व्यवसाय बना दी जाती है, अतः इस खतरे से बचने के लिये जरूरी है कि पुस्तक जगत को निजी क्षेत्र का ही कारोबार न बनाकर, इसे सार्वजनिक क्षेत्र का भी दायित्व मानकर सरकार एवं समाज कार्य करें। गरीब और अर्द्ध-विकसित देश की मूल चेतना को यदि हम जीवित रखना चाहते हैं, तो यह कमीशन की संस्कृति समाप्त की जाये। अच्छी पुस्तक, सस्ती कीमत और सुदृढ़ राष्ट्र का सपना और सरस्वती हमारे लिए जरूरी है।

4-9-1986

साम्प्रदायिकता के मोहरे

कुछ दिनों बाद राज्य की विधानसभा जुड़ेगी। प्रदेश के 200 विधायक इस मंच पर तरह तरह की समस्याओं पर, विकास पर तथा राजनीतिक स्थितियों पर बहस करेंगे। लेकिन आज मैं एक स्थिति पर आपका ध्यान दिलाना चाहूंगा, जिस पर कि सबका ध्यान होते हुए भी किसी को सोचने-समझने की फुर्सत नहीं है। यह समस्या है साम्प्रदायिकता की। क्योंकि मैं जब पैदा हुआ था, तब देश में 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' आन्दोलन चल रहा था तथा मेरे आज के जीवन में 'साम्प्रदायिकता भारत छोड़ो' का आन्दोलन चल रहा है। पहले मेरी लड़ाई एक विदेशी हुकूमत से थी,

लेकिन आज मेरी लड़ाई अपने आप की कमजोरी से है। मेरी इन कमजोरियों का नाम है धर्म, जाति, सम्प्रदाय और क्षेत्रीयता। विश्व शान्ति और निशस्त्रीकरण की समस्याओं पर तो मेरा ध्यान बाद में जाता है, लेकिन मेरे घर में घुसे यह आततायी आज मुझे सबसे अधिक परेशान कर रहे हैं। मेरी आजादी और स्वतन्त्रता आज सभी के सामने यह प्रश्नचिन्ह लग चुका है कि मैं पहले हूं या मेरा देश पहले है। यह प्रश्न अब इसलिए भी जटिल बन गया है कि मैंने अपने भीतर की मजहबी मानसिकता को सियासत की राजनीति का विषय बना दिया है। लोकतन्त्र की शतरंज पर साम्प्रदायिकता के मोहरे बैठे हैं तथा इन साम्प्रदायिक पैदल, घोड़े, ऊंट, हाथी और वजीरों ने आजादी के बादशाह को मेरी तरह मात देने के लिए घेर लिया है। धर्म जाति, सम्प्रदाय और क्षेत्रीयता की अवधारणा आज हमारे भीतर इतनी गहरी घुस गयी है कि पुराने बन्दूक के छर्रों की तरह शरीर को भीतर से खोखला बना दिया है। बन्दूक से निकले छर्रों की यह विशेषता होती है कि वह शरीर के ऊपरी हिस्से पर कोई बड़ा निशान नहीं बनाता, लेकिन शरीर के भीतर वह घाव करते हुए घुमावदार ऐसी गलियां बना देता है कि जिससे खून का बहाव रोकना कठिन होता है।

साम्प्रदायिकता की इस जंग में आज सभी लोग इतने मदहोश हो गये हैं कि वे जहर को उतारने के लिए भी जहर का ही इस्तेमाल कर रहे हैं। इस नयी उपचार विधि में मरीज की हालत दिनो-दिन बिगड़ती जा रही है तथा स्वतन्त्रता के सभी सपने एक के बाद एक चकनाचूर होते नजर आ रहे हैं। साम्प्रदायिकता अब केवल धार्मिक एवं जातीय रूपों में ही नहीं मिलती, अपितु सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक कार्य प्रणाली में भी कूट-कूट कर भर गयी है। हर साम्प्रदायिक सैनिक इस बेरहमी से लड़ रहा है जैसे तीसरा विश्व युद्ध भारतवर्ष में ही होने वाला है। यह दिमागी विकृति आम जनता में कोई एक दिन में नहीं आयी है, अपितु इन अनेक महायज्ञों के द्वारा मेरे भाइयों ने मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, गिरजाघर और उपासना के बीच खड़े होकर आहुति दी है। धर्म को आज भी हमारे जीवन और जगत में समाज, देश और विश्व से अधिक जाना जाता है तथा सम्मान दिया जाता है। यहां तक कि हमारे शहर, कस्बे और गांव तक जातिवार मोहल्लों में बंट गये हैं। चुनाव के लिए मतदाताओं के एक-एक वार्ड में जाति के आधार पर वोटों का जोड़ लगाया जाता है तथा यह जाति और सम्प्रदाय की मलिन मुख्यमंत्री बनाने तक में काम आती रही है। हमने देखा है कि यदि पिछड़ी जाति का कोई मुख्यमंत्री बन जाता है तो अपने आप दिवाली के पटाखे की तरह सभी पिछड़ी जातियों में उत्साह और उमंग की लहर दौड़ जाती है तथा तथाकथित सवर्ण लोगों में मायूसी, रोष और गड़बड़ी फैल जाती है। यदि कोई ठाकुर मुख्यमंत्री बन जाता है तो उस अपने आदमी पर सबसे पहले यही आरोप लगाया जाता है कि उसके आते ही ठाकुरवाद बढ़ता जा रहा है तथा यदि कोई ब्राह्मण मुख्यमंत्री बन जाता है तो लोगों की पहली प्रतिक्रिया यही

लाशों के साथ बलात्कार की खबरें ही रोज पढ़ने-सुनने को मिलती हैं। कभी भी यह खबर नहीं आती कि आज किसी उद्योगपति की पत्नी, आई. ए. एस., आई. पी. एस. की मैम साहब अथवा विधायक या सांसद की बहन, बेटी और बीवी के साथ सामूहिक बलात्कार हो गया। यह विश्लेषण बताता है कि हर जगह गरीब आदमी ही खरबूजे की तरह काटा जा रहा है भले ही चाकू चाहे जिधर से चलाइये। यह आर्थिक पिछड़ापन, अशिक्षा और अन्तर्विरोध ही हमें अपने बचाव के लिए जाति, धर्म, सम्प्रदाय और क्षेत्रीयता के नाम पर संगठित करता है। एक जाति और धर्म दूसरे जाति और धर्म को खतरा बता कर अपनी जाति की छतरी तान लेती है।

कहने का मतलब यही है कि जाति-धर्म के आधार पर सोचने की यह हमारी हजारों वर्ष पुरानी मानसिकता है तथा भारतीय शब्दावली में यह हमारे संस्कार में रम बस गयी है। हमारे वेद पुराण, तिलावते-कुरान, जपुजी और बाइबिल सभी इनके आगे हार मान चुके हैं तथा नेताओं ने तो जाति, धर्म और सम्प्रदायों के सामने सर्व धर्म समभाव (धर्मनिरपेक्षता) के नाम पर सबसे पहले हथियार डाल दिये हैं। यह जनता का दुर्भाग्य है कि वह जिसे भी अपना नेता चुन कर भेजती है, वह साम्प्रदायिकता की बदचलनी के साथ रंगरेलियां करने लग जाता है। मजे बढ़ जाते हैं तो यही नेता लोग जनता के बीच आकर नारा लगाते हैं कि वतन की आबरू खतरे में है तैयार हो जाओ। राजस्थान तो एक ऐसा प्यारा प्रदेश है, जहां जातीयता ने बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिकता का रूप नहीं लिया है तथा हम चाहते हैं कि इस प्रदेश को किसी की नजर न लग जाये। क्योंकि अब यहां भी इधर उधर से जन असन्तोष को भड़काने के लिए जातीय और साम्प्रदायिक भाषण, साहित्य और शतरंज बहुत सफाई से बिछायी जा रही है। सोजत (पाली) की पिछले दिनों की घटना तो इसका एक रिहर्सल है। लेकिन हमारे सामने साम्प्रदायिकता की समस्या किसी प्रदेश की नहीं अपितु पूरे देश की है। भारतीय समाज की है, दुनिया के सबसे ब[illegible] लोकतन्त्र की है। हम इस साम्प्रदायिकता का मुकाबला-सियासत की साम्प्रदायिकता से कभी नहीं कर सकते। महात्मा गांधी और इन्दिरा गांधी की मौत को हम इसलि[illegible] बलिदान कहते हैं कि ये साम्प्रदायिकता की आन्धी में मारे गये। जनरल ए. ए[illegible] वैद्य और हजारों निहत्थे भारतीय आज इसी साम्प्रदायिक मानसिकता और मजह[illegible] मदान्धता के शिकार हो रहे हैं। अकेले राजीव गांधी तो करोड़ों की साम्प्रदायिक[illegible] से लड़ नहीं सकते हैं। अतः हमें सबसे पहले साम्प्रदायिकता के हाथों शहीद साथि[illegible] को श्रद्धांजलि देते समय इस बात पर विधानसभा में बहस और निर्णय करना चाहि[illegible] कि साम्प्रदायिकता के फैलते जहर को कैसे रोका जाय। साम्प्रदायिकता के सांप [illegible] जहर कैसे निकाला जाय कि वह किसी को काट कर उसे नुकसान नहीं पहुंचा सके[illegible] इस सारी बीमारी की चर्चा तो हम अक्सर करते रहते हैं लेकिन हमने कभी इस[illegible] गम्भीर विश्लेषण करके इसको रोकने का आधारभूत ढांचा आज तक नहीं बना[illegible]

होती है कि लो अब तो ब्राह्मण महासभा का झण्डा लहरायेगा। दुर्भाग्य से एक बार साम्प्रदायिक दलों के मुख्यमन्त्रियों ने तो यह धारणा पुष्ट भी कर दी कि राजपूतों की राठौड़ी आ गयी है तथा वनियों की महाजनी चल गयी है। वस्तुतः यह साम्प्रदायिकता नहीं भी रही होगी लेकिन लोगों में आमतौर पर यही धारणा बन जाती है कि भाई अब तो राजपूतों का, ब्राह्मणों का, खटीकों का राज्य आ गया है। हमें अपने अधिकारों के लिए लड़ना पड़ेगा। वैसे मैंने खुद भी यह शब्दावली उन वरिष्ठ राजनेताओं के मुंह से सुनी है कि भला, खटीक क्या राज करेगा। अजी साहब आजकल तो राजपूतों, जाटों, ब्राह्मणों की चान्दी है। यह सारी मानसिकता इतनी खतरनाक है कि हम बिना किसी दिक्कत के हजारों-हजारों वर्गों में बंट गये हैं। हमारे मन का यह बंटवारा रग-रग में ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य और प्रभुसत्ता की लालसा से भरा हुआ है। आदमी को देखते ही उसके भीतर हमें एक जनेऊ, कड़ा-कृपाण, क्रास, बुर्का और दाढ़ी दिखायी पड़ने लगती है। कोर्ट-कचहरी में जाते ही हमें वकील, बाबू, जज, कलेक्टर सभी में जातीय संस्कार के किस्से-कहानी सुनायी पड़ने है। यहां तक कि कई बार मुकदमे में वकील करने से पहले कई लोग मुवक्किल को यह सलाह देते हैं कि तुम अमुक को वकील कर लो, क्योंकि अमुक मजिस्ट्रेट या जज है। दफ्तरों में जाति-बिरादरी के लोगों के ग्रुप बन जाते हैं तथा इनकी सबकी अपनी अलग-अलग राजनीति और बेटी-व्यवहार चलते हैं। आप इन सब बातों का सबूत मुझसे मांगें तो मेरा यही अनुरोध है कि आप कभी सियासत और कोर्ट-कचहरी के जाल में फँसिये तो आपको इस लोकतंत्र के सरोवर में कीचड़ और कमल की पहचान हो जायेगी।

जाति, धर्म, सम्प्रदाय का यह स्वार्थभरा संघर्ष आये दिन बड़ी-बड़ी सुर्खियों में अखबारों में भी छपता है। बिहार राज्य ने तो जातीय संघर्ष का कीर्तिमान स्थापित कर रखा है। वहां अनेक जातियों की अपनी अपनी सेनाएं हैं। यहां तक कि हमारे यहां बहुसंख्यक जातियां भी गली-मोहल्लों में अपनी सुरक्षा के लिए तथा राज-काज में अपनी दादागिरी बढ़ाने के लिए शिव सेना, हनुमान सेना बना रहे हैं तो इसके मुकाबले अल्ला के प्यारे आदम सेना बना रहे हैं। इसी तरह की सेनाएं, दलें और संगठन अब निरन्तर बनने लगे हैं तथा लोगों को सुनियोजित सशस्त्र किया जा रहा है। तमिलनाडु में पिछले दिनों एक राजनीतिक दल ने अपने कार्यकर्ताओं के लिए चाकू साथ रखने का नियम बना दिया। वस्तुतः यह पूरी मानसिकता हमारे भीतरी सामाजिक-आर्थिक अन्तर्विरोधों से बनती है तथा राजनीति के मोहरे इन असमानताओं और विसंगतियों को अपनी सत्ता मजबूत करने के लिए इस्तेमाल करते हैं। जाति और धर्म को राज्य सत्ता के लिए इस्तेमाल करने का यह खेल हमारे देश में इतना पुराना और गहरे उतर गया है कि आजादी के 39 वर्ष के बाद भी आज हरिजनों को जिन्दा जलाने की, पिछड़ी जातियों के नरसंहार की तथा हरिजन महि-

लाशों के साथ बलात्कार की खबरें हो रोज पढ़ने-सुनने को मिलती हैं। कभी भी यह खबर नहीं आती कि आज किसी उच्चजाति की पत्नी, आई. ए. एस., आई. पी. एस. की मिस साहब अथवा विधायक या सांसद की बहन, बेटी और बीवी के साथ सामूहिक बलात्कार हो गया। यह विश्लेषण बताता है कि हर तरह गरीब आदमी ही खरबूजे की तरह काटा जा रहा है चाहे हो चाकू चाहे जिधर से चलाइये। यह आर्थिक पिछड़ापन, अशिक्षा और अन्तर्विरोध ही हमें अपने बचाव के लिए जाति धर्म, सम्प्रदाय और क्षेत्रीयता के नाम पर संगठित करता है। एक जाति और धर्म दूसरे जाति और धर्म को खतरा बता कर अपनी जाति की ठेकेदारी तान लेती है।

कहने का मतलब यही है कि जाति-धर्म के आधार पर सोचने की यह हमारी हजारों वर्ष पुरानी मानसिकता है तथा भारतीय शब्दावली में यह हमारे संस्कार में रच बस गयी है। हमारे वेद पुराण, तिलावत-कुरान, जपुजी और बाइबिल सभी इनके आगे हार मान चुके हैं तथा नेताओं ने तो जाति, धर्म और सम्प्रदायों के सामने सर्व धर्म समभाव (धर्मनिरपेक्षता) के नाम पर सबसे पहले हथियार डाल दिये हैं। यह जनता का दुर्भाग्य है कि वह जिसे भी अपना नेता चुन कर भेजती है, वह साम्प्रदायिकता की बदचलनी के साथ रंगरेलियां करने लग जाता है। जब वह जाता है तो यही नेता लोग जनता के बीच आकर नारा लगाते हैं कि वतन की आबरू खतरे में है तैयार हो जाओ। राजस्थान तो एक ऐसा प्यारा प्रदेश है, जहां सांप्रदायिकता ने बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिकता का रूप नहीं लिया है तथा हम चाहते हैं कि इस प्रदेश को किसी की नजर न लग जाय। क्योंकि अब यहां भी इधर उधर से जन असन्तोष को भड़काने के लिए जातीय और साम्प्रदायिक भाषण साहित्य और शतरंज बहुत सफाई से बिछायी जा रही है। सोजत (पाली) की पिछले दिनों की घटना तो इसका एक रिहर्सल है। लेकिन हमारे सामने साम्प्रदायिकता की समस्या किसी प्रदेश की नहीं अपितु पूरे देश की है। भारतीय समाज की है, दुनिया के सबसे ब
लोकतन्त्र की है। हम इस साम्प्रदायिकता का मुकाबला-सियासत की साम्प्रदायिकत
से कभी नहीं कर सकते। महात्मा गांधी और इन्दिरा गांधी की मौत को हम इसलि
बलिदान कहते हैं कि ये साम्प्रदायिकता की आन्धी में मारे गये। जनरल ए. एस
वैद्य और हजारों निहत्थे भारतीय आज इसी साम्प्रदायिक मानसिकता और मजह
मदान्धता के शिकार हो रहे हैं। अकेले राजीव गांधी तो करोड़ों की साम्प्रदायिक
से लड़ नहीं सकते हैं। अतः हमें सबसे पहले साम्प्रदायिकता के हाथों शहीद साथि
को श्रद्धांजलि देते समय इस बात पर विधानसभा में बहस और निर्णय करना चाहि
कि साम्प्रदायिकता के फैलते जहर को कैसे रोका जाय। साम्प्रदायिकता के सांप
जहर कैसे निकाला जाय कि वह किसी को काट कर उसे नुकसान नहीं पहुंचा सके
इस सारी बीमारी की चर्चा तो हम अक्सर करते रहते हैं लेकिन हमने कभी इस
गम्भीर विश्लेषण करके इसको रोकने का आधारभूत ढांचा आज तक नहीं बना

है। अतः हमारी राय में सरकार को ही यह पहल करनी चाहिए कि वह एक ऐसा सर्वमान्य आयोग गठित करे जो समाज की साम्प्रदायिकता के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक पहलुओं का पता लगा कर उन्हें समाप्त करने के उपाय सुझाये। इसके अन्तर्गत यह खुलासा किया जाना चाहिए कि देश के सन्दर्भ में साम्प्रदायिकता का क्या अर्थ है तथा संविधान की धर्मनिरपेक्षता और दैनिक व्यवहार की धर्मनिरपेक्षता में क्या विरोधाभास हैं। शिक्षा के पाठ्यक्रमों में, सरकारी पदों पर कोर्ट-कचहरी में साहित्य और संस्कृति में, रोटी-रोजी मे, गली मोहल्ले और दुकानों में, जनसंस्थाओं में इस जातीय एवं धार्मिक साम्प्रदायिकता का क्या रूप है। ऐसी स्थितियों पर विचार विश्लेषण करके यह तय किया जाना चाहिए कि हम हजारों वर्ष को कैसे धीरे-धीरे समाप्त करें। हम जब तक चोर की जगह चोर की मां को नहीं पकड़ेंगे तब तक हमारे सभी नारे, भाषण, सभा-सम्मेलन, रैलियां, प्रभात फेरियां, उपवास और शान्ति मार्च बेकार रहेंगे। क्योंकि साम्प्रदायिकता का कैंसर किसी जादू टोने से समाप्त नहीं किया जा सकता, बल्कि इसके लिए हमें सर्जरी (शल्यक्रिया) करनी पड़ेगी। हां तत्काल इतना अवश्य किया जाना चाहिए कि राजनेता सभी प्रकार के साम्प्रदायिक विचार, व्यक्ति और संस्थाओं में अपनी भागीदारी बंद कर दें। क्योंकि राजनेताओं के सहस्त्र चण्डी यज्ञ में भाग लेने से, मुनियों के पीछे मंत्री और न्यायाधीशों के नंगे पाव सड़कों पर चलने से, मजारों पर चादरें चढ़ाने से, गुरुद्वारों मे ढोक लगाने से, साधु-महात्मा, ज्योतिष और भगवानों के आशीर्वाद लेने से, धर्म के नाम पर हरिकीर्तन करने से राजनेताओं द्वारा उन सभी साम्प्रदायिक शक्तियों को सामाजिक सम्मान दिया जाता है, जो कि हमारे सामूहिक विकास और मानवीय सद्भाव के शत्रु हैं। धर्म के नाम पर अथवा संस्कृति के नाम पर राजनेताओं का झांकियों और जुलूसों में निकलना जन संचार के माध्यमों द्वारा धर्म, जाति, सम्प्रदाय के आधार पर नियोजित कार्यक्रमों का प्रचार-प्रसार करना, हर स्थिति को भाग्य और भगवान की इच्छा बताना एक गहरी नासमझी और थोथी सुरक्षा है, जिसका कवच पहन कर हम 21वीं शताब्दी में जीवित नहीं रह सकेंगे। साम्प्रदायिकता के कम्प्यूटर से जो लोग अपनी रणनीति बनाते हैं, उनको पहचानना और नष्ट करना हमारे भारतीय होने की पहली शर्त है। दुनिया के किसी भी सभ्य और समृद्ध समाज में साम्प्रदायिकता का ऐसा घिनौना रूप दिखायी नहीं देता, जैसा कि ऋषि-मुनियों की इस तथाकथित धरती पर है। आप कभी यह भी सोचिये कि जो पश्चिमी देश भारत में साम्प्रदायिकता को अपनी तुरप चाल की तरह इस्तेमाल कर रहे हैं, वे देश अमरीका, ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस, कनाडा आदि में साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन और वित्तीय सहायता क्यों नहीं देते। हम डा. इकबाल का तराना 'सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा' तो गाते हैं लेकिन राम जन्म भूमि और बाबरी मस्जिद के लिए क्यों लड़ने-मरते हैं ? हमें इस साम्प्रदायिक मानसिकता को समझना होगा कि हम जाति-धर्म अथवा सम्प्रदाय से अधिक सुरक्षित रह सकते हैं अथवा एक

समस्त भारत के भीतर अधिक सुरक्षित और विकसित हो सकते है। यह प्रसंग बहुत-बहुत जटिल और विस्तृत है। मैं विनम्रता से इसकी ओर आपको सोचने के लिए आमंत्रित करता हूँ। यदि आप सोचेंगे तो आपके पास खोने के लिए बेडिया (जंजीरें) होगी और पाने के लिए सम्पूर्ण जहान (दुनिया) होगा।

30-8-1986

आजादी क्यों पाई

भारत की स्वाधीनता वर्षगांठ पर देश के सभी नागरिको के प्रति मेरी शुभकामनायें अर्पित है।

लाल किले से बोलने वाला और लाल किले को हजारो किलोमीटर दूर बैठकर सुनने समझने वाला दोनो ही भारत के प्रिय नागरिक हैं।

आपको याद होगा भारत ने आजादी का यह अधिकार लम्बे संघर्ष और कुर्बानियों के बाद हासिल किया था। हमने आजादी इसलिये नही ली थी कि भारत को एक दिन धर्म और सम्प्रदायो मे बाटेंगे। हमने आजादी का सपना इसलिए नही देखा था कि इस समाज को जातियो की दीवारो मे बाधेंगे। यह आजादी इसलिए नहीं मिली थी कि लोकतन्त्र के चुनावो को काले धन से लडेंगे तथा हमने यह भी नही चाहा था कि हम चुनाव मे केवल 32 या 36 प्रतिशत मतदाता ही वोट डालकर बहुमत पर अपनी अल्पमत की सरकार लाद देंगे। हमने आजादी को सबके लिए प्राप्त किया था और आज यही सवाल हमारे सामने है कि आखिरकार यह स्वाधीनता हम सबके लिये है या मुट्ठीभर उन लोगो के लिए है, जो लाल किले के अगल-बगल मे रहते हैं। हमारा देश भारत आज दुनिया के प्रथम 15 तकनीकी और औद्योगिक विकास वाले देशो मे एक है लेकिन यह देश दुनिया के प्रथम 15 निर्धन और गरीब देशो मे से भी एक है। यही विडम्बना आज हमारी सबसे बडी चुनौती है। भारतवर्ष ने जहाँ विज्ञान, उद्योग और कृषि के क्षेत्र मे कीर्तिमान कायम किये हैं। वहीं आज भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता, आतंकवाद और खुदगर्जी मे भी हमने अन्तर्राष्ट्रीय कीर्तिमान कायम किये है, जहाँ हमने गौतम बुद्ध, महावीर, गुरुनानक, महात्मा गांधी, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर एव प्रेमचन्द जैसे अनेक गौरव पुरुषो को जन्म दिया वहीं हमने नाथूराम गोडसे, भिन्डरावाले और हाजी मस्तान भी पैदा किये है। हमारे देश ने जहाँ राजा राम मोहन राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, बालगंगाधर तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, सुब्रमण्य भारती, लालालाजपत

राय, मौलाना अबुल कलाम आजाद, जवाहर लाल नेहरू एवं भगतसिंह को पाया। यहीं हमने बिड़ला, गोयनका, मोदी, मूंदड़ा, डालमिया और सिंघानिया जैसे मुनाफा कमाने वाले साहूकारों को भी प्राप्त किया है। यह अन्तर एक समय का नहीं अपितु इतिहास का है। इतिहास का यह अन्तर समाप्त करना ही आज हमारी सबसे बड़ी चुनौती है। लोकतंत्र, समाजवाद एवं धर्म निरपेक्षता के नाम पर यहाँ सभी की प्राइवेट लिमिटेड (निजी उद्योग) कम्पनियाँ फल फूल रही हैं तो जनता के संस्थान (पब्लिक सैक्टर) बराबर घाटे में डूबते चले जा रहे हैं। एक साथ सभी 75 करोड़ भारतवासी चीख-चीखकर बहस में उलझे हैं, लेकिन उनका ध्यान केवल अपने आप पर है तथा भारतवर्ष पर किसी का ध्यान नहीं है। हमारे लिए आज सबसे बड़ी दुर्भाग्य की बात यही है कि हम अब केवल अपने लिए चिंतित हैं तथा दूसरों के लिए सोचने और समझने की आदत यहाँ किसी को नहीं है।

लेकिन इतने बड़े देश में जहाँ दो प्रतिशत लोग भ्रष्ट, साम्प्रदायिक और आतंकवादी मानसिकता के हैं वहाँ 98 प्रतिशत लोग एकता, राष्ट्रीय सद्भाव और ईमानदारी से जीवनयापन एवं विकास करने में ही विश्वास करते हैं। जाने-अनजाने यह ईमानदार बहुमत आजादी के इतने वर्ष बाद भी किसी विचार और राष्ट्रीय दर्शन से नहीं जुड़ पाया है। हम लोग न तो बाहर के विचार और संघर्ष से कुछ सीख पाये हैं और न ही भीतर की सदियों पुरानी सांस्कृतिक विरासत से ही कुछ ग्रहण कर पाये हैं। आजादी के पहले हमारा एकमात्र लक्ष्य था भारत को एक आजाद देश बनाओ, लेकिन आज हमारा एक मात्र उद्देश्य यह है कि पहले अपना घर बनाओ भारत अपने आप बन जायेगा। अपने घर और भारत के बीच का यह अन्तर ही हमारी लोकतांत्रिक आजादी है, जिसे हम एडी से चोटी तक भ्रष्टाचार के गंगाजल से सींच रहे हैं। यहाँ सभी को आचार्य एवं भगवान बनने की, मुल्ला एवं मौलवी बनने की, ग्रंथी एवं प्रमुख ग्रंथी बनने की, फादर एवं आर्कविशप बनने की छूट है यहाँ जनपथ और राजपथ एक साथ किन्तु अलग-अलग चलते हैं। यहाँ स्वर्ण मन्दिर में आतंकवादी और नानकवादी एक जैसी अरदास करते हुये भी सियासत (राजसत्ता) के लिए अलग-अलग अस्त्र-शस्त्र चलाते हैं। यहाँ धर्म निरपेक्षता की धर्मशाला में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, जमाते-इस्लामी, आल इण्डिया सिख स्टूडेन्ट्स फेडरेशन और ईसाई मिशनरियाँ एक ही वन्देमातरम् गाती हैं। यहाँ नदियों के पानी की एक साथ पूजा होती है, लेकिन भूखे-प्यासे लोग इस पर एकाधिकार के लिए लड़ते झगड़ते हैं। यहाँ मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे और गिरजाघर में एक प्रभू के सभी बन्दे (भक्त) प्रसाद चढ़ाते हैं, लेकिन प्रसाद को प्रोपर्टी (सम्पत्ति) में बदलने का अधिकार यहाँ पुजारियों, ग्रंथियों, मौलवी एवं पादरियों के पास ही है।

आप कहेंगे जब सारे धर्मों का एक ही सार है तो फिर झगड़ा किस बात का है? आप कहेंगे जब हमारी एक धरती और एक देश है तो फिर यह जाति,

नस्ल और परम्परा का विष कौन बो रहा है ? आप कहेंगे कि जब हमारा एक ही संविधान है तो यह अधिकारों की आपाधापी कौन करवा रहा है ? मेरा तो ऐसा मानना है कि हमारे भीतर आज भी एक आदिमानव सभ्यता का प्रभाव चला आ रहा है तथा उसने हमें इस तरह भयभीत, असुरक्षित और आत्म केन्द्रित बना दिया है कि हम अपने अलावा किसी को भी इस धरती पर पाव नही रखने देना चाहते। हमारे भीतर सत्कार और सरकार के नाम पर प्रभुसत्ता और व्यक्तिगत सुख सुविधा की विश्व दौड चल रही है।

रिक्शे वाला सवारी को चोर समझता है, दुकानदार ग्राहक को सोने का अंडा देने वाली मुर्गी समझता है, पुजारी भक्तो को अपना प्रसाद समझता है तो नेता जनता को अपनी उपभोक्ता सामग्री समझता है। वे लोग नासमझ हैं, जो यह नारा उछालते है कि भारत में कम्युनिज्म, समाजवाद अथवा सर्वहारावाद आ रहा है। वस्तुत पूँजी और उत्पादन के साधनो पर नियंत्रण रखने वाले इस बात से ज्यादा चिंतित है कि कहीं यह शिकार (गरीब) हमारे हाथ से नही निकल जाये। क्योंकि गरीब, अशिक्षा, कायरता और आपसी फूट के बने रहने से ही पूँजीवाद के खूनी पंजे मजबूत बनते है। गरीब और अमीर का यह शाश्वत संघर्ष ही आज की दुनिया की सबसे बड़ी समस्या है, जिसे कुछ लोग अणु परमाणु, स्टारवार, रंगभेद, सैन्यवाद से सुलझाना चाहते हैं।

हमारे भारत मे हर व्यक्ति अधिकार चाहता है। वह जमीन, पानी, हवा और इससे जुड़े जीव तथा जगत पर अपना वर्चस्व चाहता है। उसे सम्पत्ति के अधिकार से लेकर समाज और सत्ता तक के सभी अधिकार चाहिये। लेकिन यह अधिकार जब तक हम सबका नही होगा तब तक यह संघर्ष जारी रहेगा। दुनिया मे आज दो ही जातियां और धर्म है। एक गरीब और दूसरा अमीर। दुनिया मे दो ही बड़े सत्य है एक धर्म और दूसरा विज्ञान। दुनिया मे दो ही राज्य व्यवस्थाये है एक पूँजी-वाद और दूसरा समाजवाद। हमारे देश की 90 प्रतिशत (बहुमत) आबादी पिछड़ी और गरीब है तथा वह चाहती है कि इस देश पर बहुमत अथवा गरीब का राज्य हो। जहां दक्षिण अफ्रीका मे इन्सान को रंगभेद (काले-गोरे) के नाम पर गुलाम बनाया जाता है वहा भारत मे गरीब और अमीरी के नाम पर इन्सान को निहत्था करके मारा जा रहा है। यह कुछ वैसा ही है कि जिसकी लाठी उसकी भैंस अर्थात् जीने के अधिकार केवल उसी को है, जो ताकतवर है। इस धरती को वीर पुरुष ही भोग सकते है। मै आपसे ही सवाल करता हूँ कि जब यह धरती आपकी है तो आप इसे क्यो नही भोगते। भारत के विभाजित समाज की यह विसंगति और अन्तर-विरोध ही इसकी मुक्ति के सबसे बड़े माध्यम है। भारत एक जड़ समाज नही है तथा मुक्ति चेतना का तेजी से बढ़ना दावानल ही हमारी इस सामयिक उथल-पुथल का मूल कारण है। लेकिन समानता की न्यायोचित लड़ाई को समाप्त करने के

लिए ग्राज यहाँ साम्प्रदायिकता ग्रौर ग्रातंकवाद का सहारा लिया जा रहा है। ग्रातकवाद भय फैलाता है तो साम्प्रदायिकता फूट ग्रौर नफरत फैलाती है। जातिवाद तो साम्प्रदायिकता के ग्रजगर का बच्चा है। ग्रब धर्म ही गरीबो को मारने का सबसे बडा भावनात्मक ग्रौर ग्राध्यात्मिक ग्रस्त्र है। क्योंकि जो इन्सान ग्रणु-परमाणु बम से नही मर सकता वह इन्सान जाति, सम्प्रदाय, धर्म, निजी धन ग्रौर ग्रशिक्षा से बिना बोले ही मर जाना है।

मुझे तो समझ नही ग्राता कि समाजवादी संविधान से पू जीवाद का विकास क्यो हो रहा है। मैं यह नही जान पाता कि एक नागरिक पुलिस की वर्दी पहनते ही थानो मे बलात्कार कैसे कर लेता है। हमे तो यह रहस्य पकड़ मे नही ग्राता कि ग्राज विद्यार्थी शिक्षक को क्यो पीट रहा है। हम यह भी नही जान पाते कि सभी धर्मगुरु 21वी शताब्दी के लोकतन्त्र मे प्रधानमन्त्री ग्रौर मुख्यमन्त्री क्यो बनना चाहते है हमें तो यह जादूगरी भी समझ नहीं ग्राती की ग्रभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का ग्रधिकार लेने ग्रौर दिलवाने वाला पत्रकार ग्रपने कल्याण कोष के लिये पुलिस, यातायात, सैल्स टैक्स ग्रौर इनकम टैक्स विभाग के लोगो से चन्दे के टिकट क्यो बिकवा रहा है ग्रौर तो ग्रौर हम यह बात भी नही जान पा रहे है कि लोकतन्त्र मे सबसे ग्रधिक पिटाई ग्रामजनता की ही क्यो हो रही है।

ग्राप ग्राश्चर्य करेगे कि ग्राज हर व्यक्ति एक मशीन की तरह भाग रहा है। जहाँ चाबी खत्म हो जाती है वह ठहर जाता है। एक ग्रावेश, उन्माद ग्रौर बदहवासी की हवा चल रही है। सब ग्रपनी-ग्रपनी गा रहे हैं ग्रौर सारे डाक्टर मरीज को ग्रपनी परेशानी ग्रौर बेबसी बता रहे हैं। बात-बात मे हम उलझते है, गालियाँ देते हैं, मुकदमे करते हैं ग्रौर मार-पिटाई पर उतर ग्राते हैं। बात बन जाये तो बहुत बढिया नही तो सरकार की ऐसी तैसी कर देते है। मतदान के लिए तो ढीले पड जाते हैं ग्रौर फिर 5 साल तक गुस्से ग्रौर झुंझलाहट में तने रहते हैं रोते इसलिये हैं कि गाय के पुत्र हैं ग्रौर हाडते क्यों हैं कि सांड के जाये हैं। लोककथा के रामूडेवाली हालत है हमारी जिसे कि जूते भी खाने पड़ रहे हैं ग्रौर कादे (ब्याज) भी खाने पड रहे है। समस्या यह नहीं है कि भारत में साधन, सम्पदा ग्रौर मानवीय शक्ति का ग्रभाव है। हमारी समस्या यह है कि हम ग्रनपढ ग्रौर ग्रज्ञानी हैं तथा ग्राजादी लाने वालो की तुलना मे सांस्कृतिक एवं वैचारिक नेतृत्व से विहीन हैं। हमारी ग्रशिक्षा ही हमारी ग्राजादी को खतरे में डाल रही है तथा हमे हर बात में विभाजित ग्रौर भयभीत कर रही है। बाड ग्रौर खेत दोनों ही एक-दूसरे से नफरत ग्रौर संदेह करते हैं, लेकिन खेत सोना निपजा कर भी भूखा है ग्रौर बाड ग्रपने सभी कांटो के साथ [illegible]त ग्रौर किसान को, प्रकृति ग्रौर विज्ञान को एक साथ मिलने नही दे रही है। यह [illegible]क पहेली नही ग्रपितु एक दर्शन है, जिसे वेदों से लेकर महाभारत तक सभी ने उल्टा-पल्टा है।

भारत जैसा शान्तिप्रिय देश आज अपने चारों तरफ [illegible] से विद्रोही देशों से घिरा है। हजारों किलोमीटर दूर बैठे साम्राज्यवादी [illegible] के मुँह में भी भारत को देखकर पानी आता है। उसकी महत्त्वाकांक्षा विश्व विजय की है जो हमारी महत्त्वाकांक्षा विश्व मानव की है। प्रकृति से लेकर नियति तक यही विभाजन है, जो हमारे संघर्ष का मूल है। यह अन्तर और भेद ही बतलाता है कि 39 वर्ष पहले हम क्या थे और आज हम क्या हैं? अंग्रेजों के उपनिवेशवाद में और भारतीय लोकतन्त्र में कौन-सा फर्क है। हर आदमी दूसरे से उसका चरित्र, नैतिकता, सम्पत्ति और कुर्सी को पूछ रहा है, लेकिन वह अपनी असली तस्वीर दूसरों को क्यों नहीं बताता। दूसरे के दुःख और शोषण पर भाषण देने वाला यह अहसास क्यों नहीं रखता कि यदि इस बलि के बकरे की जगह वह खुद होता तो क्या करता। मनुष्य को सारी बातें संविधान की पोथी में लिखकर नहीं दी जाती। लेकिन मनुष्य अपने मौलिक ज्ञान और संघर्ष से उन सारी जरूरतों को समझता है, जो अधिकार एवं कर्तव्यों का विभाजन और विकास करती है। अतः आइये! आप भी तिरंगा झंडा लहराइये और अपने घर को ही 'लाल किला' समझकर राष्ट्र को यह संदेश दीजिये कि वह क्या करे? हर समस्या को देखते ही गोली मार दी जाये या हर समस्या को जन्म देने वाले व्यक्ति, विचार और व्यवस्था को देखते ही गोली मार दी जाये? आजादी की इस पावन वर्षगांठ पर कृपया एक बार अपने जन्म का और भारत वर्ष होने की याद तो कर लीजिये।

14-8-1986

मुट्ठी भर वेतन है

हम सब क्या चाहते हैं? कहाँ जाना चाहते हैं? कैसा बनना चाहते हैं? यह प्रश्न क्योंकि मनुष्य से जुड़े हुये हैं इसलिये साहित्य से भी जुड़े हुये हैं। यही प्रश्न साहित्य को समाज का दर्पण और जीवन का यथार्थ बनाते हैं। एक ऐसे प्रसंग पर आज मेरी चर्चा है, जिसमें हम एड़ी से चोटी तक लहूलुहान है, लेकिन उसका उपचार ढूंढने का साहस हम नहीं जुटा पाते। अपने ही घरों में कैद यह जीवन कितना बदशक्ल और बदगुमान होता जा रहा है कि हमें अपने जीवित रहने की इच्छा वह सब कुछ करवाती रहती है, जिसे हमें कभी नहीं करना चाहिये।

पिछले दिनों बीकानेर गया था। प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा के निदेशक से मिलने का मोह नहीं रोक पाया। दोपहर दो बजे उनके दफ्तर चला गया। उनके

कमरे के बाहर कोई 400–500 अध्यापकों की बेचैन भीड़ अपनी-अपनी परेशानियों की अरजियां लिये खड़ी थी। एक हलचल और धक्कामुक्की का माहौल था। नये निदेशक अपनी कुर्सी पर दूसरे दिन बैठे ही थे कि तबादलों की अशैक्षणिक गतिविधियों ने उन्हें घेर लिया। एक निदेशक के चारों तरफ हंगामा देखने के लिये चुपचाप उनके कमरे के कोने में लगे छोटे से सोफे पर बैठ गया। भीड़ में कई परिचित अध्यापक भी मिले। उन सबने मिलते ही अपनी दारुण कथायें सुनाना शुरू कर दिया। कुछ ने यह ताना भी कसा अरे व्यासजी। आज आप किस चक्कर में यहाँ पधारे। शायद अपनी मजबूरी के घेरे में कइयों ने यही सोचा कि मैं भी किसी तबादले के चक्कर में यहा आया हूं।

खैर निदेशक जी ने एक-एक की बात सुनना शुरू किया। उनके पास बैठे अन्य शिक्षा विभाग के अधिकारी धीर गंभीर बने बैठे, नये निदेशक की ओर अपलक निहार रहे थे। एक अध्यापक, बड़े तैश में आकर कहने लगे, साहब मेरा दो वर्ष में यह पांचवा तबादला है। आखिर मेरा कसूर क्या है? तभी एक अध्यापक बोले साहब चार घंटे से आपकी इंतजार करते-करते हम थक गये है। मैं बांसवाड़ा से किराया भाड़ा खर्च करके बीकानेर आया हू, यदि आप मेरी फरियाद नहीं सुनेंगे तो मैं किसके पास जाऊगा। मेरी पत्नी लकवे की बीमारी से अपाहिज है, मेरे तीन छोटे-छोटे बच्चे हैं और इस पर भी आपने मेरी बदली बाड़मेर जिले के उस गाव में कर दी है जहां न रेल जाती है और न ही बस पहुंचती है। वहां न तो अस्पताल है और न ही पीने का पानी। इसी बीच जयपुर से शिक्षा सचिव का फोन आ गया। उन्होंने भी दो नाम तबादलो के लिये लिखवा दिये। निदेशक महोदय ने ज्योंही टेलीफोन का चोगा रखा कि एक अध्यापक संघ का प्रतिनिधिमंडल धड़धड़ाता कमरे मे आया और कहने लगा साहब! आपको ये सब गलत तबादले निरस्त करने होंगे। हम यहां तब तक धरना जारी रखेंगे, जब तक आप हमारी मागें मान नहीं लेते। इसी बीच, एक चार पेजी अखबार के नुमाइन्दे, हाथ में बैग लिये दिदेशक के सामने वाली कुर्सी पर आकर जम गये और कहने लगे डायरेक्टर साहब मेरे उस काम का क्या हुआ? उन्होंने एक अध्यापिका के पक्ष में नगर के पडोस की एक भूतपूर्व विधायिका का हवाला भी दिया तथा तुरत-फुरत एक लैटरपैड पर टाइपशुदा आवेदन उनके सामने रखा गया। लैटर-पैड पर कोई 8–10 संस्थाओं के नाम छपे थे, जिनके कि वे पत्रकार महोदय शायद पदाधिकारी थे। तभी निजी सचिव ने एक भारी भरकम सूची और अरजियों का बंडल निदेशक की टेबल पर रखते हुये कहा कि सर ये शिक्षा मंत्री जी ने कागजात भेजे हैं, आप देखलें। भीड़ बढ़ती चली जा रही थी और निदेशक महोदय एक-एक को स्थिति बताने में लगे थे। अचानक कमरे की बिजली चली गयी और मूसलाधार वर्षा होने लगी। चपरासी ने मोमबत्ती जलाकर रख दी तथा अध्यापकों की चीख पुकार बराबर रही। मैंने दो घण्टे तक यह आपाधापी देखी और सोचा कि अगर मैं इस कुर्सी पर होता तो क्या करता नेता, सचिव, यूनियनें और अन्तिम दबावों की भीड़

का किस तरह सामना करना। मन ही मन निदेशक को बधाई भी दे रहा था कि वे बिना समय खोये सबकी सुनने जा रहे थे। इससे भी मजे की बात यह है कि जैसे ही शाम को यह समाचार आया कि अमुक साहब नये शिक्षा निदेशक बनाये गये हैं, सवेरे-सवेरे जयपुर के कोई 150-200 अध्यापक-अध्यापिकायें उनके निवास पर पति-पत्नी एवं बच्चों समेत मौजूद थे। बच्चों के साथ वे लोग भी आये थे, जो निदेशक जी को अपने बहुत निकट मानते थे। नये निदेशक के घरवाले इस भीड को देखकर टेलीफोन पर टेलीफोन सुनते हुये भौचक्के थे। उन्हे यह समझ मे नहीं आ रहा था कि आखिर कल तक तो पापा के पास सन्नाटा था, लेकिन रात भर मे यह अपनत्व और आवेदनों की बाढ़ कहाँ से आ गई। निदेशक जी सबको हाथ जोड-जोडकर समझा रहे थे, भाई मुझे ड्यूटी तो जोइन कर लेने दो। लेकिन तबादलों की इच्छा से पागल और परेशान मन भला किसकी सुनता है। एक मुंहफट अध्यापक बोले—साहब आपने हमे जयपुर से क्यो हटाया? आपने उस अध्यापक, आपने उस अध्यापिका, आपने उस बाबू को क्यो नही हटाया जो पिछले 20 साल से जयपुर में जमा है और पार्ट टाइम दुकान चलाता है तभी उस टिप्पणी पर पास खडी अध्यापिका लगभग रोते हुये बोली। सर मेरे पति कैन्सर के रोग से मरणासन्न पडे है, मेरी लडकी के जापा होने वाला है, डी. आई जी. एस. और जोईन्ट डायरेक्टर हमारी शक्ल देखना नही चाहती। हर बात मे कहती है तो मैं क्या करू? ऊपर से जी. श्रो. ले आश्रो। ये तबादले मैंने थोडे ही किय है, जो यहां आकर रोती हो। तभी एक वृद्ध से व्यक्ति अपनी-टूटी हुई साइकिल को दीवार से लगाकर खडी करते हुये आगे बढ़े। मोटा चश्मा, बिना क्रीज की पेंट-कमीज और कांपते हुये शरीर से वे बोले--साहब--मेरा सालभर बाद रिटायरमेंट है, मेरी लडकी की दो महीने बाद शादी है और अब मुझे आप किसी जहन्नुम मे भेजना चाहते हैं, आप तो कवि है, आपका बहुत नाम सुना था। आप मुझ पर नही तो मेरे बुढापे पर तो तरस खाइये, साहब-निदेशक जी मौन खडे यह सब कुछ सुनते जा रहे थे। तभी चपरासी ने आकर बताया कि शिक्षामंत्री जी का फोन है। निदेशक जी को कार मे बैठकर तुरन्त रवाना होना पडा और तबादलों की भीड असहाय-अवाक देखती ही रह गयी। चेहरों पर फैलता पसीना, आखों से ढुलकते आसू और त्योरियों में पड़ते बल का सारा बोझ सयोग से आया एक अतिमानव भला कैसे उठा पायेगा, मैं यह सोचकर हैरान था। प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा के राज्य मे डेढ लाख से अधिक अध्यापक-अध्यापिकायें बीसियों कर्मचारी सगठन, विधायक, सासद, मन्त्री, मुख्यमन्त्री, बडे अधिकारी और अनाथ कर्मचारी। सभी की नजर नये निदेशक पर लगी है। 31 जुलाई को तबादलो पर रोक लग जायेगी, इस आशका से सभी जल्दी मे बदहवासो जैसे सलूक कर रहे थे। यह सब कुछ वैसा ही दृश्य है, जब मीनार की 14वी मजिल मे आग लग जाने पर और नीचे उतर जाने की लिफ्ट खराब हो जाने पर दो क्षण पहले राग-रग मनाती मित्र मण्डली अपनी जान बचाने के लिये मीनार से छलाग लगाती है अथवा लिफ्ट मे

अपना तबादला चाहते हैं । इस भीड में गलत और सही सभी तरह के आवेदक हैं । योग्यता और अयोग्यता का कोई पैमाना तबादले के लिये नही है । हाँ इतना जरूर देखता हूँ कि जिस मर्द ने भी इस तबादले की बाढ को रोकने का प्रयास किया, वह खुद बहुत जल्दी अयोग्य करार दिया जाकर तबादले पर जरूर भाग जाता है । फिर नया निदेशक आता है, फिर तबादले होते हैं, और फिर एक से गिनती गिनने मे यह सरकारी नौकर लग जाता है । हर कर्मचारी चाहता है कि वह अपने घर मे ही रहे, या कोई जोर नही चले, तो फिर 10-20 किलोमीटर की दूरी पर रहे । हर व्यक्ति चाहता है कि उसकी पोस्टिंग की जगह अस्पताल, रेल, बस, बड़ी पढ़ाई की सुविधा, सिनेमा, बाग बगीचे और अफसर तकरो हो, ताकि वह मनचाही तरक्की कर सके । सभी यहा सुख की नौकरी चाहते है और सभी यहाँ तबादलो मे बचना चाहते हैं । यह सब कैसे हो ? इस धारा को कौन बदले ? जब मनचाही बीमारी के प्रमाणपत्र बिकते हो, तबादलो के लिये सचिवालय गये विधायको की पिटाई होती हो सचिव के कमरे के बाहर 'तबादले के लिये नही मिलें' का बोर्ड टगा हो, मन्त्री जी सभी को यह कहते हो कि ठीक है, कोशिश करेंगे, तब भला, किस की मा ने इतना जाया है, जो तबादलो के प्रदूषणो से प्रशासन की गंगा को निर्मल करे ?

हम यह नही कहते कि तबादले एकदम बद हो जाये अथवा एकदम सर्व-सुलभ हो जाये । लेकिन, हम आपका ध्यान इस तरफ दिलाना चाहते है कि आप खुद सोचिये कि यदि आप किसी निदेशक की कुर्सी पर बैठे होते और तबादलो की बाढ आ जाती, तो क्या करते ? क्या आप उन सबको उनकी मनचाही जगह तबादला दे सकते है ? क्या आप सभी स्थानो पर अनिवार्य जीवन की सुविधायें जुटा सकते है ? क्या आप सब को चुनावी वोटर समझकर खुश कर सकते है ? क्या आप बड़ी-बड़ी सिफारिशो के पाव उखाड़ सकते है ? यदि ऐसा नही कर सकते तो फिर किसी इन्सपेक्टर, निदेशक, सचिव या मन्त्री—विधायक से क्या नाराज है ? दुनिया से भागने वाले जब दुनिया को बदल ही नही सकते तो फिर यह व्यवस्था कौन बदलेगी ? व्यवस्था की यह कमी लगातार आपको चीखती चली जायगी तथा आप सारी उमर राज और समाज को गाली देते हुए निकाल देंगे । आखिर क्या होगा इस सबसे ? यदि एक अच्छी जगह आपका तबादला भी जैसे तैसे हो जाए तो आप क्या तीर मार लेंगे ? आप केवल यह सन्तोष जरूर कर लेंगे कि मैं अपने घर और आया, थोड़ा खर्च कम हो गया तथा स्वयं का 'टेन्शन' नहीं रहा । आपकी यह छोटी-सी इच्छा और सुख इस लोकतान्त्रिक प्रशासन के लिए बहुत बड़ी देशी विरासत है । क्योंकि, प्रशासन भी बिना ठोस नीति-रीति के आंखमीच अपनी सड़क पर दो सौ की किलोमीटर की रफ्तार से कार चलाना चाहता है । कोई मरे या जिये, इस को देख कर प्रशासन यह परायापन की व्यवस्था कायम रखता है । इस दोनो तरफ की समझदारी से कर्मचारी और सरकार—दोनो ही कुण्ठाग्रस्त है । ये दोनो

ही वाजी हार चुके हैं, लेकिन इन्हें यह भ्रम है कि वे जीत गये हैं और सब ठीक चल रहा है।

आप कभी तो देर सवेर अपने निजी स्वार्थ को और सुख को छोड़कर सोचिये कि क्या आपका जीवन महज एक तबादला है? क्या आपका जीवन महज एक सरकार है? क्या आपका सपना महज एक अपना ही परिवार है? क्या आपकी पढ़ाई-लिखाई महज एक नौकरी ही है? आप कब तक इस अंधी गली में दिशाहीन दौड़ लगायेंगे?

इस समाज की यह विडम्बना है कि वह हजारों वर्ष के गौरवशाली अतीत और योजनाओं से भरे पूरे भविष्य के होते हुये भी अपने आप में ही सिमटा हुआ है। देश के दो करोड़ सरकारी कर्मचारियों की समस्या से देश की 78 करोड़ आबादी दहशत में है। आखिर, इस तबादले की लंगड़ी भिन्न (गणित की एक समस्या) को कौन सुलझायेगा?

यह बात तो एक बानगी है हमारी भीतरी जटिल यात्रा की। यह तो एक मिसाल है, हमारे मनुष्य से मशीन बनने की। यह तो एक पीड़ा है, हमारे इस देश के नागरिक होने की। भला, इस छोटी-सी तबादले की पहेली को हम नही सुलझा पायेंगे, तो फिर कहाँ जायेंगे? बुरा मत मानियेगा, यह सारे लक्षण और निशान एक ऐसे राज-रोग के हैं, जिसे आप पूंजीवाद, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और निरंकुश लोकतन्त्रवाद कहते हैं। मार्क्स और महात्मागांधी ने तथा भगवान राम और कृष्ण ने भी कभी यह नही सोचा होगा कि 21वी शताब्दी के भारत में एक दिन तबादलों का महाभारत होगा, साम्प्रदायिकता की रासलीला होगी और एक इंसान दूसरे इंसान को, साम-दाम-दंड और भेद से तबादले पर खदेड़ देगा।

7-8-1986

भीतरवासी प्रेमचंद

मैं प्रेमचद को अपने बचपन से लेकर जवानी तक पढते रहने के बाद इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि जब तक किसी एक इंसान की आंखो में भी आंसू होगा, तब तक प्रेमचन्द प्रासंगिक रहेगा। भूखे नंगो की तरह हर लड़ाई में इसीलिये प्रेमचद को कलम का सिपाही कहा जाता है। प्रेमचद मेरी जाति के थे, उनका और मेरा धर्म

मोर्चों पर हूं, जहां-जहा उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के हथियार मौजूद है। मैं प्रेमचद बनकर इसलिये खुश नही हू कि मुझे पाठ्यक्रमों में पढ़ाया जाता है, अथवा मेरी शताब्दिया मनाई जाती हैं। मैं प्रेमचंद बनकर इसलिये बेचैन हू कि मुझसे मेरे करोड़ो साथी दो जुन रोटी-कपड़ा और नागरिक समानता व स्वतंत्रता चाहते हैं। मै किस-किस को क्या-क्या दे पाऊंगा, यह तो समय बतायेगा, लेकिन मैं भी इतनाभर जरूर बताना चाहूगा कि मैं तब तक लड़ता रहूंगा, जब तक कि मैं सामाजिक और आर्थिक रूप से गुलाम हू।

मैंने तो सोचा भी नही था कि मेरे देश का लेखक सत्ता और प्रतिष्ठानों का भाट-चारण बन जायेगा। मैंने जाना भी नहीं था कि मेरे साथ आजादी की लड़ाई लड़ने वाला आजादी मिलने के कुछ अरसे बाद ही अपनी विजयपताका को बेच देगा। मुझे तो अहसास भी नहीं था कि मेरे साथी धर्म और सस्कृति को एक व्यवसाय बना देंगे। मैंने सोचा भी नही था कि मुझसे मेरी मातृभाषा छीन ली जायेगी। मैंने तो अंदाज भी नहीं किया था कि लोग मुझे बहुराष्ट्रीय विदेशी कपनियों के हाथों कौड़ियों के भाव बेच देंगे। मैंने यह कभी नहीं जाना था कि मै लोकतंत्र के नाम पर वोट मानकर जाति, धर्म और संप्रदाय की तराजू मे तोला जाऊंगा। मैंने कल्पना भी नहीं की थी कि मेरे देश मे महात्मा गाधी को गोली मारी जायेगी। मैंने कब सोचा था कि जनसेवक की रामनामी ओढ़कर मेरे ही देश के लोग मेरी गरीबी को अपनी फाइलों मे बेहिसाब बेइज्जत करेंगे ? मैंने कभी नही सोचा था कि मैं अपने ही भाई-बंधुओं के बीच हिंदू-मुसलमान-सिख-इसाई बना रहकर समाज में साथ जीने की प्रार्थनाए लेकर भटकता रहूगा। मैने कभी नहीं सोचा था कि मैं सामाजिक न्याय के लिये अदालतों के चक्कर लगाते-लगाते मर जाऊंगा, मैंने कभी आशा नहीं की थी कि मैं पुरुष का सामंती अहम् ओढकर स्त्री को अत्याचारों की चादर में लपेट दूंगा। मैंने कभी नहीं सोचा था कि मैं खुद को ब्राह्मण और पड़ोसी को शुद्र बना दूगा। हां, मैंने यह भी नही समझा था कि मैं दिन मे चार बार आरती और नमाज पढ़कर रात भर मुनाफे की चक्की मे लोगों को पीसूंगा और खुद को अपने देश से पहले या बड़ा घोषित कर दूंगा।

मुझ प्रेमचद को अपनी छोटी सी दुनिया में तो जीने नही दिया जाता। कोई मुझे अंग्रेजी के नाम पर लूटता है, कोई मुझे कन्नड़ और मराठी के नाम पर लडाता है। कोई मुझे खालिस्तान बनाने की धमकियां देता है। कोई मुझे बोहरा और खुद को सैय्यदना बताकर जुल्म करता है। कोई मुझे राम जन्म भूमि के लिये, तो कोई मुझे बाबरी मस्जिद के लिये मर जाने को कहता है। कोई मुझे चमार-रंगर मानकर भूमिपतियों की गोलियों से भून देता है, या फिर घर बार समेत जिंदा जला देता है। मैं इस तरह रोज मरता हूं और फिर जीवित हो उठता हूं। मैं मरता इसलिये हू कि मैं अनपढ और गरीब हू और मैं जीवित इसलिए हो उठता हूं कि मैं प्रेमचद हूं।

मताए मोह बलम दिन गयो,
तो क्या गम है।
कि सूने दिल में दुखो तो हैं,
उंगलियाँ मेरे।

मुझे नागार्जुन, यशपाल, रामविलास शर्मा, निराला, रांगेय राघव, केदार नाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, भाई गुजानसिंह, गार्गी कालिंदी चरण पाणिग्रही, शिव शंकर पिल्लई, शंकर कुरुप जैसे अनेक कलम के सिपाहियों पर गर्व है, जो मुझमें अपना विश्वास सौंपते है।

प्रेमचद का जीवन बहुत व्यापक और विराट है। यह जीवन शहर की पाच सितारा होटलो मे नही बसता। मेरा जीवन राजपथ से नही गुजरता, मेरा जीवन किसी तिरंगे मे भी नही बधा है। मेरा जीवन किसी करोड़पति की जवान लड़की के प्रेम का मोहताज नही है। मेरा जीवन किसी पद की लालसा से पीड़ित नही है। मेरा जीवन किसी जागीरदार की लाठी या बन्दूक भी नही है। मेरा जीवन किसी देश की सैनिक तानाशाही भी नही है। मेरा जीवन किसी छविगृह मे नाचती हुई झूठी जिन्दगी भी नही है, तो मेरा जीवन किसी मंदिर को समर्पित देवदासी भी नही है। मेरा जीवन तो एक खुला आकाश है, जहाँ लोग नदी के पानी के लिये नहीं लड़ते, जहाँ लोग राज्यों मे गावो के बंटवारे के लिये नही झगड़ते। जहाँ लोग साधू-मुनि बनकर सियासत की बैसाखियों से नहीं चलते। जहाँ लोग जीवनदायिनी दवाइयों को 300 प्रतिशत के मुनाफे पर नही बेचते। जहाँ लोग जेलो मे कैदियो की आँखें नही फोडते और जहाँ लोग अपने ही नन्हे-मुन्ने सपनो (बच्चो) को मजदूरी के लिये लाचार नही बनाते।

यह प्रेमचद नाम तो मुझे इस दुनिया ने दिया है। मेरा असली नाम तो धनपतराय है। मैं स्कूल का एक छोटा-सा मास्टर हूं, जिसकी जूतियाँ फटी हैं, आँखें

पेट में घसी हैं, जो एक पुरानी छतरी से तेज वर्षा और तूफान में अपना बचाव करता है। मैंने जो कुछ भी लिखा, वह आपके पास है। मैंने जो कुछ भी सीखा, वह आपके सामने है। मुझे अपने जीवन में दूसरों का दर्द अधिक सताता है। मुझे प्रेमचद बनाकर दुनिया ने मुझ पर भारी उपकार किया है। मुझे इससे अधिक और क्या चाहिये कि आप मुझे अपना साथी समझें ?

प्रेमचद बनना एक मायने में बहुत आसान है। आप सबके भीतर एक प्रेमचंद बैठा है। वह आपको सुबह शाम परेशान भी करता होगा। आप जब भी देश-काल और समाज से गुजरते होंगे, तो आपको अपने भीतर छिपा प्रेमचंद यह याद दिलाता होगा कि जागें तभी सवेरा। प्रेमचंद तो मेरी एक नाम की पहचान है। वरना मैं असल में भूखे, नगों और सर्वहाराओं का एक गीत हूं, जिसे गाने से रास्ता आसान बनता है और मंजिल करीब आ जाती है। मेरा जन्म दिन 31 जुलाई, 1880 मनाना यह एक दुनियादारी है, जिससे आपने मुझे भी नही छोड़ा। इस दिन को आप प्रेमचंद अथवा एक लेखक के रूप मे न मानें, अपितु उन सबकी मुक्तियात्रा का प्रारम्भ मानें, जो नितांत अकेले हैं, अपरिचित हैं, अपढ़ और फटेहाल हैं। आज मेरी याद के अधिकारी केवल वे है, जो अपने को जमीन पर जीवित रखना चाहते हैं, मेरी स्मृति में उन्हीं का हिस्सा है, जो मुझे संघर्ष की प्रेरणा देते है। मेरी कहानियाँ, उपन्यास केवल उन्ही के हैं, जो इस दुनिया से भागना नही चाहते और दुनिया को बदलना चाहते हैं। मै तब तक आपके बीच हूं, जब तक कि आपके दिल में इस धरती का दर्द है, मनुष्य होने का गौरव है तथा जीवन जीने की चाहना है। प्रेमचद के रूप में मेरी शब्दयात्रा 'मानसरोवर' से होकर गुजरती है तथा मगलसूत्र, काया-कल्प, रंगभूमि, गोदान, गबन, सेवाश्रम, जैसे अनेक पड़ावो पर ठहरती है। मेरा लेख 'महाजनी सभ्यता' और 'साहित्य का उद्देश्य', पढ़ने के बाद आप मुझे बतायें कि तब से अब तक हमारी भीतरी दुनिया और सवेदनाएँ कितनी बदली हैं। हम आजादी के बाद, आजादी के लिये कितने अधिक समर्पित हैं। हमने व्यक्तिवाद से ऊपर उठकर समाजवाद को कितना समझा है तथा हमने प्रेमचंद को पढ़कर उसे कितना अपना सहजीवी बनाया है। प्रेमचंद का यह ताना बाना दुनिया के हर अंधेरे कोने मे आज भी क्यों सही सलामत है, आप सोचें !

31-7-1986

पुस्तक नीति

जब से राजीव गांधी प्रधान मन्त्री बने है तब से देश मे एक नीतिगत दृ
कोण विकसित करने की चेष्टा सर्वत्र दिखाई देने लगी है। इसकी पहली शुरु
नई शिक्षा नीति से समझी जा सकती है। इसी तरह लम्बे समय की आर्थिक नीति
की घोषणा, कपड़ा उद्योग नीति, सचार नीति जैसे अनेक प्रयास हमारे सा
विकसित होने लगे हैं। लेकिन आजादी के बाद पहली बार सरकार ने खुले तौर
देश की पुस्तक नीति तैयार करने का जो प्रयत्न किया है, हम इसे सोच-समझ
एक बेहतर दिशा मान सकते हैं। "देर आए-दुरुस्त आए" के माहौल में समाज
सर्वाधिक उपेक्षित चीज 'पुस्तक' पर यह ध्यान केन्द्रित हुआ तथा इसका प्रा
राष्ट्रीय पुस्तक विकास परिषद बनाने से किया गया। इसी धारणा पर सभी र
मे पुस्तक विकास परिषद स्थापित की गई है। यह एक सत्य है कि राजस्था
केन्द्र की इस योजना को बहुत गहराई से अब तक महसूस नही किया गया है।
वर्ष पूर्व गठित राजस्थान पुस्तक विकास परिषद की दूसरी औपचारिक बैठक दो
पहले ही जयपुर मे हुई है।

राष्ट्रीय पुस्तक विकास परिषद ने देश की पुस्तक नीति तैयार करने के
एक कार्यकारी दल का गठन किया जिसके अध्यक्ष जबलपुर विश्वविद्यालय
उपकुलपति कांति चौधरी बनाए गए तथा नेशनल बुक ट्रस्ट के पूर्व निदेश
प्रसिद्ध लेखक करतार सिंह दुग्गल, भारतीय भाषा सस्थान, मैसूर के नि
डॉ. देवीप्रसाद पटनायक एव अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक सघ के
अरविन्द कुमार इसके सदस्य नियुक्त किए गए।

इस दल ने अपनी रपट मे पहली बार पुस्तक नीति का कार्यक्षेत्र साम
कर यह तय किया कि हमे किस तरफ जाना है। समिति का विचार क्षेत्र
विविध विषयो पर पुस्तको का निर्माण तथा उसका उचित दाम पर पा
उपलब्ध होना। लेखको को प्रोत्साहन देकर सृजनात्मकता को बढ़ावा दे
लेखक-प्रकाशक सम्बन्धो को सुधारना। कागज की कमी और अनुपलब्धि
पुस्तक वितरण, विपणन तथा सग्रहण जैसी समस्याओ के सम्भावित स
खोजना। एक सशक्त पुस्तकालय आन्दोलन का विकास। क्षेत्रीय भाषाओ मे
निर्माण की समस्याएं। पुस्तक निर्माण मे सलग्न विभिन्न केन्द्रीय तथा राज्य
संस्थाओ मे समन्वय स्थापित करना। पुस्तक निर्माण मे सरकारी हस्तक्षेप क
और आधार सुनिश्चित करना तथा लोगो मे पठन प्रवृत्ति का विकास करने
उठाये जाने योग्य कदमो का सुझाव देना।

इस राष्ट्रीय पुस्तक नीति की प्रस्तावना में कहा गया कि, "भारत में मौखिक सृजनशीलता एक उल्लेखनीय व्यवस्था और परम्परा रही है। यहाँ पांडुलिपियों और शिक्षा लेखों की भी एक परम्परा रही है। यद्यपि संचार साधनों में आई क्रान्ति ने रेडियो, टेलीविजन, वीडियो और कम्प्यूटरों द्वारा ज्ञान के प्रसार के वैकल्पिक साधन हमें उपलब्ध कराए हैं तथा मुद्रण माध्यम को ज्ञान तथा सूचना का प्रमुख भंडार तथा संचारक माना गया है। मुद्रित शब्दों के माध्यम से ही काल और स्थान की सीमाओं को पार किया जा सकता है और किसी भी जाति के स्थाई मूल्यों को संचारित किया जाना सम्भव हो पाता है। पुस्तकें एक राष्ट्र के सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य का बैरोमीटर होती हैं, पर करोड़ों बच्चों के लिए पुस्तकों का अकाल, करोड़ो आदिवासियों और पिछड़ी जातियों के लिए और उनकी जीवन पद्धति को चित्रित करने वाली पुस्तकों की कमी, प्रकाशन में असतुलन और अकेली पाठ्य-पुस्तकों में बंदी शिक्षा, राष्ट्र की ऐसी रुग्णता का परिचायक है जिस पर तुरन्त ध्यान देना जरूरी है। भारत जो कि भाषाओं और संस्कृतियों के एक बड़े समुच्चय का प्रतिनिधित्व करता है, जितना कुपोषण से पीड़ित है उतना ही पुस्तकों के अकाल से। मानवीय-संसाधनों के उचित विकास को सुनिश्चित बनाने के लिए जरूरी है कि एक राष्ट्रीय पुस्तक नीति का स्पष्टीकरण किया जाए।"

यह परिकल्पना बताती है कि भारत मे 1961 की जनगणना के अनुसार 1652 मातृ-भाषाएँ हैं। विभिन्न आधारो पर इनमे 200 से 700 तक भाषाएँ हो सकती हैं तथा 10 मुख्य लिपियों के अलावा कई गौण लिपियाँ हैं, किन्तु यह वैविध्य हमारी शिक्षा में इतना नही झलकता। स्कूली भाषा के रूप में देश मे 58 भाषाएँ प्रयोग की जा रही है। अतः हमारी शिक्षा में इस समय ऐसी संरचना बन गई है कि शिक्षा में उत्तरोत्तर विकास के साथ-साथ आवश्यक भाषाओं की संख्या कम होती जा रही है।

यह रपट ऐसा भी कहती है—शिक्षा में भारतीय भाषाओं का प्रयोग जरूरी है जिससे एक सुदृढ भारतीय व्यक्तित्व का विकास हो सके, लेकिन भारतीय गणतन्त्र की सह-राजभाषा अंग्रेजी आज की उच्चतर शिक्षा, राज्य तथा केन्द्रीय प्रशासन और जन संचार की एकमात्र भाषा नही, तो एक महत्वपूर्ण भाषा तो है ही। कुल मिलाकर देश की सामूहिक चेतना में इसका स्थान बहुत ऊँचा है। इसलिए इस बात पर कोई आश्चर्य नही होना चाहिए कि इस देश मे अंग्रेजी जानने वालों की संख्या दो प्रतिशत होते हुए भी प्रकाशित पुस्तकों मे लगभग आधी अंग्रेजी की होती है।

राष्ट्रीय पुस्तक नीति की यह रपट बताती है कि भारत में कोई 17 करोड़ स्कूल जाने वाले बच्चे हैं तथा इनके लिए न तो पुस्तकें हैं, न ही शिक्षक है, न [illegible] श्रेष्ठ दूसरी भाषाओं का अनुवाद है और न ही स्कूलों मे समुचित पुस्तकालय [illegible] की व्यवस्था है।

अनौपचारिक शिक्षा तथा आजीवन शिक्षा के लिए गठित [illegible] की दस्तावेज में कहा गया है कि—एक अनुमान के अनुसार 1981 में 15 वर्ष से अधिक आयु के कोई 25 करोड़ व्यक्ति निरक्षर थे। यदि सब आयु वर्ग के व्यक्तियों को लें तो 1981 में निरक्षरों की संख्या 44 करोड़ थी। अतः प्रारंभिक शिक्षा के लिए लोगों की घरों की भाषा में आधारभूत और सहायक सामग्री तैयार की जानी चाहिए। इसके लिए जिला स्तर पर शिक्षण साधन केन्द्र बनाए जाएँ, लेकिन इससे पूर्व हम अपनी भाषा नीति बनानी होगी जो हमारी पुस्तक नीति के अनुरूप काम कर सके। इसी पुस्तक-अवधारणा के लिए सुप्रसिद्ध लेखक बर्तोल्त ब्रेख्त ने कहा था—

> नेतृत्व के लिए अपने को तैयार करो!
> अपने लिए एक पुस्तक खोजो,
> ओ बेघर लोगो!
> आओ बुद्ध ज्ञान ढूँढो, ओ जड़ लोगो!
> भूखों मरते हो, एक पुस्तक थामो!
> अब यही बनेगी हथियार!

सृजनात्मक लेखन के बारे में रपट बताती है—आज सांस्कृतिक विरासत और सामयिक जीवन पद्धतियों के बीच का सम्बन्ध टूट जाने के कारण सृजनात्मक साहित्य भारत की अधिकृत एवं बहुमुखी छवि प्रतिबिम्बित करने में असफल हो गया है। हम पाते हैं कि भारत में सृजनात्मक साहित्य विवर्ण होता जा रहा है। भारतीय जीवन को मध्यमवर्गीय दृष्टिकोण के सकरे छेद से देखते रहने के कारण यह साहित्य आंचलिक, दलित और जन-जातीय समाज को छू पाने में असफल है। आज भारतीय लेखक स्वतन्त्रता संग्राम के रोमांचक काल में नहीं जी रहा, वह रवीन्द्र, इकबाल, प्रेमचन्द और भारती की मानसिकता का प्रतिनिधित्व नहीं करता, क्योंकि लेखक स्वयं इतिहास का विषय बनने का दावा पेश करने लगा है। अतः उसकी आर्थिक दुर्दशा और भी बढ़ गई है। निराशा और प्रोत्साहन का अभाव सर्जनात्मक लेखन

के मर्म को नष्ट करता जा रहा है तथा प्रकाशक मुनाफा कमाने की प्रवृत्ति से ओत-प्रोत है। यदि स्थिति को सम्भालने के तत्काल प्रयास नहीं हुए तो भारतीय लेखन का स्तर इतना गिर जाएगा कि उसका कभी कोई उपचार नहीं हो सकेगा। इस दिशा में विश्वविद्यालयों, भाषा विभागों एवं अकादमियों को बहुत कुछ करना चाहिए। इसके साथ ही लेखक-प्रकाशक के आदर्श सम्बन्ध बनाए जाएँ और लेखकों को भी अपने को संगठित करना चाहिए।

पुस्तक नीति की यह रपट कहती है कि—आज सभी में पठन-पाठन का अभाव है। 1982 में यूनेस्को की विश्व कांग्रेस ने यह घोषित किया था कि हम ऐसे विश्व की खोज में हैं जिसमें ज्यादा लोगों को ज्यादा आसानी से पुस्तकें उपलब्ध हों और जिसमें पढ़ने की योग्यता और पढ़ने के शुभ-परिणामों का आनंद प्राप्त करने की कामना और इच्छा अधिक व्यापकता से सभी समुदायों द्वारा खोजी जाए। हम ऐसे विश्व की खोज में है—जिसमें वास्तव में सभी के लिए किताबें हों, पर इसके साथ ही जिसमें सभी पढ़ सकें तथा किताबों और पठन को प्रतिदिन के जीवन का आवश्यक और वांछनीय भाग समझ सकें। हम केवल साक्षर विश्व की ओर नहीं, वरन् सार्वजनिक पठनशील समाज के प्रति आशान्वित हैं।

यह रपट प्रकाशन की गम्भीर बाधाओं पर बताती है कि--प्रकाशन व्यवसाय की सबसे बड़ी बाधा कागज के बढ़ते दाम और बिक्री के अपर्याप्त रास्ते हैं। यह बड़ी हास्यापद बात है कि सरकार ने फिल्म वित्त निगम तो बना दिया लेकिन 'पुस्तक वित्त निगम' बनाने की माँग को वह उपेक्षित कर रही है। पुस्तकों के निर्माण में लेखक की रॉयल्टी, अनुवाद का खर्च, कागज, छपाई, ब्लाक दरें, डिजा-इनिंग एवं जिल्द आदि का खर्च आता है तथा वर्तमान में प्रकाशक इस पुस्तक की लागत से 6-7 गुना मूल्य रखते हैं और फिर उसे 40 से 70 प्रतिशत तक का कमीशन जगह-जगह चुकाकर बेचते हैं। यह दुष्चक्र आगे चलकर पुस्तक को निगल जाता है और ज्ञान का उद्देश्य व्यापार की मरुस्थता में बदल जाता है।

पुस्तकों का वितरण कैसे हो—इस पर कहा गया है कि पुस्तक व्यवसाय तथा वितरण का केन्द्रीयकरण उत्पादन विरोधी हो सकता है। अतः नेशनल बुक ट्रस्ट, प्रस्तावित राष्ट्रीय लेखक संघ तथा प्रकाशकों की सहकारी समितियों का जाल फैलाना उचित होगा। क्योंकि एक निजी प्रकाशक बिक्री का व्यापक जाल अपनी आर्थिक सीमाओं के कारण नहीं फैला सकता।

पुस्तकालय आन्दोलन और पुस्तकों की थोक खरीद के विषय पर "राष्ट्रीय पुस्तक नीति" के अन्तर्गत कहा गया है कि—राज्य स्तर केंद्रीय और जिला पुस्तकालयों के साथ-साथ हर सार्वजनिक रूप से ... तक पुस्तकालय एवं पुस्तक

दोनों की व्यवस्था अनिवार्य होनी चाहिए। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को नई पुस्तकों की सीधी खरीद के लिए विश्वविद्यालयों को तथा इसी तरह राज्यों को अपने कॉलेज एवं विद्यालयों के लिए विशेष पुस्तक खरीद के प्रावधान रखने चाहिए। सूचना केन्द्र के रूप में ग्रामीण पुस्तकालय, संग्रहालय और मनोरंजन केन्द्र खोलने चाहिए, जहाँ मौखिक और लिखित ज्ञान परम्परा का संग्रहण किया जा सके।

इसके अलावा भी यह रपट सुझाव देती है कि—पुस्तक विकास के लिए समाधनों का संग्रहण किया जाए तथा करों में राहत दी जाए, प्रकाशकों का पंजीकरण हो तथा शिक्षा मन्त्रालय में एक पुस्तक प्रकाशन इकाई संचालित हो, पुस्तक प्रकाशन में संपादकीय कौशल का विकास हो, अनुवाद के काम को मानक संस्थान के रूप में गठित किया जाए, पुस्तक मूल्यांकन संस्थान बनाया जाए, पुस्तकों की नई प्रौद्योगिकी विकसित की जाए, कॉपीराइट कानून को सुदृढ़ बनाया जाए, राज्य पुस्तक विकास परिषदें सक्रिय की जाए, अपंगों के लिए पुस्तकें विशेष रूप से तैयार की जाए, तथा पुस्तकों के आयात-निर्यात पर बल दिया जाए।

राष्ट्रीय पुस्तक नीति के दस्तावेज में हर बार समाधनों की कमी को रेखांकित किया गया है तथा कहा गया है कि गत 40 वर्षों में भारतीय समाज में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ है, परन्तु पुस्तकें बहुत कम बदली हैं। भाषाओं, धर्मों, रीति-रिवाजों और जीवन पद्धतियों के सांस्कृतिक वैविध्य ने ऐसी पुस्तकें निर्मित नहीं की जो एक-दूसरे के प्रति व्याप्त पूर्वाग्रहों का प्रतिवाद कर सकें और देश की बहुत—सांस्कृतिक आधारशिला पर आश्रित शिक्षा व्यवस्था का निर्माण कर सके। यह देखना लेखकों और प्रकाशकों का उत्तरदायित्व है कि, वे एकांगी और पुराने दृष्टिकोण को प्रस्तुत न करें। पाठक समुदाय और समाज, देश के प्रति इनकी भारी जिम्मेदारी है।

इस रपटसार के भीतर तक झांकने पर लगता है कि यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर खुला और समग्र चिन्तन तो है, लेकिन इसकी जड़ों में मनुष्य और समाज की अनिवार्य चेतना का आधारभूत ढांचा नहीं सोचा गया है। निजी और सार्वजनिक उत्पादन प्रणाली की तरह पुस्तक को भी एक उपभोक्ता सामग्री अधिक समझा गया है।

विदेशी भाषा की दासता, आध्यात्म की सृष्टि, निजी व्यवसाय की प्रमुखता, अत्यधिक राजकीय संरक्षण का मोह, पुस्तकों की खरीद के सीमित साधनों से बढ़ती कमीशन की प्रतियोगिता आदि प्रश्नों पर इस रपट की सम्पूर्ण परिकल्पना अव्यवहारिक नजर आती है। वस्तुतः इस नीति दस्तावेज में जो सबसे बड़ा अभाव हमें खटकता है, वह यह कि इसमें पुस्तक की आत्मा उसके कथ्य, वस्तु, परिवेश और विचार चेतना पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया है। इस सारी स्थिति में हम एक ऐसी 'पुस्तक' का निर्माण करेंगे जो स्वयं दिशाहीन होगी और उसे मुफ्त देने पर भी

कोई नहीं पढेगा । राष्ट्रीय पुस्तक नीति का यह दस्तावेज नई शिक्षा नीति के
बना है । ग्रतः इसका नई शिक्षा नीति से कोइ सरोकार नहीं है । यह कभी
व्यापक विचार-विमर्श के बाद दूर की जानी चाहिए तथा 'पुस्तक' ग्रथवा समाज
भविष्य के इस दस्तावेज पर हमें बहुत गहराई से बहस छेड़नी चाहिये । ग्रभी
यह दस्तावेज दुर्भाग्य से चर्चा में ही नहीं है ।

23-6-

रोजाना देर रात

मेरे पास इस जिंदगी मे तीन चीजें हैं, किताब, कमल ग्रौर कपड़ा । किताब
से मन को, कलम से दुनियां को ग्रौर कपडे से तन को जोड़ता हूं । रोज देर रात जब
घर लोटना हू, तो बच्चे जागते हुये मेरा इंतजार इसलिये करते रहते हैं कि पिताजी
ग्राएंगे, तो हमारे लिए कुछ लाएंगे । लेकिन मेरे पास सदैव किताबों का थैला ही
होता है । दोनों लडकियां दौडकर दरवाजे पर ग्राती है ग्रौर पूछती हैं-पिताजी,
हमारे लिये क्या लाए ? मैं हंसकर रोज यही कहता हूं-बेटा मैं तुम्हारे लिये प्यार
लेकर ग्राया हूं । बेटियां छोटी हैं, ग्रतः वे प्यार में ग्रौर वस्तु (चीज) में कोई ग्रन्तर
न समझकर चुप हो जाती हैं । लेकिन, मेरी पत्नी कहती है-ग्ररे, क्यों पापा को तंग
करती हो । इनके पास किताबों के ग्रलावा लाने को कुछ नहीं है । सारा घर किताबों
से भर रखा है । इसी तरह मै दिन भर की चक्कर-फेरी (जिसमें नौकरी भी शामिल
है) करके जब देर रात भी पुस्तकें ग्रौर पत्रिकाएं ही पकड़े बैठा रहता हूं, तो बच्चे
कहते हैं-ग्ररे पापा, भई, सोजाग्रो या फिर हमसे बातें करो । ये चौबीसो घंटे क्या
किताबों में उलझे रहते हो ? मैं इस स्थिति ग्रौर प्रश्न को ग्रपने ढंग से परखता हूं ।
एक तरफ संत कबीर भी यही कहते हैं-'पोथी पढ़-पढ़ जग मुग्रा, पंडित भया न
कोय । ढाई ग्राखर प्रेम का पढे सो पंडित होय ।' लेकिन मैं इस विवेचन की चादर
को जब समाज के ग्रांगन मे बिछाता हूं, तो मुझे लगता है कि यहां किताबें पढ़ने की
फुर्सत किसे है ? सवेरे से शाम तक ग्रौर रात को सपनो में भी नमक, तेल, मिर्च का
भाव लोगों को दिखता रहता है । मजदूरी करते करते लोग इस दुनिया से ग्रपरिचित
ही चले जाते हैं । ग्रौर तो ग्रौर, गली मोहल्ले वालों को भी पता नहीं चलता था कि
मरने वाले का का मन क्या चाहता था । क्या उस गरीब का पेट इतना बड़ा था,
जो वह मर खपकर भी उसे दो जून नहीं भर पाया ?

चलिये, आपने कमीशन मुंह पर मारकर किताब को पुस्तकालय में घुसा दिया, तो फिर उसे पढ़ने वाले कहां हैं ? 'यूनेस्को' का सर्वेक्षण बताता है कि 9(प्रतिशत पुस्तकालय की पुस्तकें वर्षों तक रेत चाटती रहती हैं और उन्हें पाठक नसीब नहीं होता। जिस राज्य का मंत्री, सचिव, निदेशक और बाबू महीने मे पांच किताब भी नही पढ़ता हो और दिनभर शिक्षा और समाज के विकास पर भाषण देता रहता हो, उस राज्य की प्रजा का क्या भविष्य बनेगा, यह बात आप सोच लीजिये। बड़े साहब जो कुछ पढ़ते हैं, वह भी अपने देश की भाषा में नहीं, अपितु विदेशी भाषा में पढ़ते हैं। भारत के सभी रईसजादों और अफसरानों के घर की तलाशी तो लीजिये, वहां आपको शायद ही कोई भारतीय लेखक या प्रान्तीय लेखक की पुस्तक मिले। यदि कोई भूल से मिल भी जाये, तो वह भी किसी गरजमद लेखक और प्रकाशक द्वारा भेंट की हुई होगी।

लेकिन स्थितियों को बदलना ही मनुष्य की भूमिका है। अज्ञान को ज्ञान मे बदलना ही उसकी यात्रा है। अंधेरे को दूर करना ही प्रकाश का विज्ञान है। आजादी के बाद पहली बार भारत सरकार ने 'राष्ट्रीय पुस्तक नीति' का प्रारूप तैयार किया। इसके अन्तर्गत भाषा परिदृष्य और पुस्तक परिदृष्य, बाल साहित्य, पाठ्य पुस्तकें, शैक्षिक प्रकाशन, अनौपचारिक शिक्षा एव आजीवन शिक्षा के लिये साहित्य, सृजनात्मक लेखन, पठन प्रवृत्ति को प्रोत्साहन, पुस्तकालय आन्दोलन और पुस्तको की थोक खरीद जैसे प्रश्नों पर विस्तार से विचार किया गया है। इसके साथ ही पुस्तक नीति के लिये ससाधनों का संग्रहण तथा करो में राहत, प्रकाशको का पंजीकरण, सम्पादकीय कौशल का विकास, अनुवाद, पुस्तक मूल्यांकन संस्थान, पुस्तकें और नई प्रायोगिकी, कॉपी राइट, राज्य पुस्तक विकास परिषदें, अपंगों के लिये पुस्तकें, पड़ोसी धर्म, पुस्तकों का आयात और निर्यात जैसी विभिन्न सहभागी आवश्यकताओं पर भी सुझाव और निष्कर्ष दिये गये हैं।

राष्ट्रीय पुस्तक नीति की यह रपट न तो लेखकों ने, न प्रकाशकों ने, न ही विक्रेताओं ने, न पाठकों ने और न ही उनके दोस्तों—पर वालों ने पढ़ी है। बिना बहस और चर्चा से उत्पन्न यह रपट एक बहस की सुन्दर प्रस्तावना है।

अब पुस्तक नीति का यह दस्तावेज हमें किस समाज और मनुष्य के निर्माण के लिये तैयार करता है, इस सम्बन्ध में यह नीति बेहद चुप है। सारा जोर इस बात पर दिया गया है कि पुस्तक को एक उद्योग मान लिया जाये और पाठक को एक उपभोक्ता सामग्री। इस नई पुस्तक नीति का सम्पूर्ण स्वर मुनाफाखोर और दिशाहीन समाज बनाने का सपना है। कहीं भी (प्रस्तावना में ही) यह नहीं कहा गया है कि जो पुस्तक नीति होगी, उसके मूलभूत सिद्धान्त और मानवीय रिश्ते क्या होंगे ? इस नीति के निर्देशक तत्व क्या होंगे ? अतः हमें इस पुस्तक नीति को स्वीकार करने में

पहले यह बुनियादी ढांचा बनाना होगा, जिसके भीतर यह नीति फिर विकसित होगी।

राष्ट्रीय पुस्तक नीति में यह भी नहीं समझाया गया है कि अनपढ़, अल्प-विकसित, अधपके पाठक और मनुष्य से किस भाषा में कोई पुस्तक बात करेगी ? सारा निचोड़ अंग्रेजी भाषा पर है। उसे विश्व-ज्ञान की खिड़की कहा गया है। यह तर्क देखकर फिर मुझे कबीर की तरह रोना और हंसी आती है कि क्या समझकर हमारे वेद-पुराण, ज्योतिष, मानवलीलाएँ और दर्शन विदेशी लोग यहाँ से उठाकर या खरीदकर ले गये थे ? अतः जिस तरह हमारी नई शिक्षा नीति भद्रलोक और अभद्रलोक (अमीर-गरीब) का निर्माण करने वाली है, ठीक उसी तरह, हमारी यह 'राष्ट्रीय पुस्तक नीति' भी भाषाई और मुनाफाई दासता से पीड़ित है। इस नीति से पुस्तक उद्योग बन जायेगी, प्रकाशक मशीन बन जायेगा तथा ये सब मिलकर फिर देश को एक पुस्तक मंडी में बदल देंगे। इस मंडी में भारत बनेगा, या महाभारत बनेगा, इसकी कल्पना एक निरक्षर भी यहाँ कर सकता है।

पुस्तक नीति का प्रस्ताव बनाते समय सभी वर्ग हितों के लोग इसमें रखे गये, लेकिन जनता का प्रतिनिधि और मनुष्य का सामाजिक मनोविज्ञान का प्रतिनिधि इसमें एक भी नहीं रखा गया। नतीजा इसीलिये यह बना कि अपने-अपने हितों को देखो और समाज के दिशा-निर्धारण की चिंता को मारो गोली। कभी-कभी तो इस तरह की दिशाहीन रपटों को पढ़कर लगता है कि जैसे निर्णायकों ने एक कम्प्यूटर का रूप ले लिया है और सारे नतीजे ठीक वैसे ही आ रहे हैं, जैसे मनुष्य और समाज नहीं चाहता।

सोवियत संघ में पुस्तक का महत्व इस बात से ही समझा जा सकता है कि वहाँ लेखकों के सामने एक राष्ट्रीय और मानवीय परिप्रेक्ष्य होता है। पुस्तक तैयार होने पर उस समाज के विभिन्न विषय विशेषज्ञ पढ़ते हैं और जांचते हैं तथा फिर पुस्तक भी सरकार, व्यवस्था, समाज (जो भी कहें) ही छापता है। ऐसी बनावट और नीतिगत पुस्तकों के छपने ही हजारों व्यक्तियों की भीड़ उस दुकान के बाहर लाइन लगाकर खरीदने को खड़ी हो जाती है।

क्या हम ऐसी कोई नीति नहीं बना सकते, जिसके तहत प्रकाशक, लेखक, विक्रेता और पाठक मुनाफे और दिशाहीनता से जीवित बच निकलें ? आप कहेंगे कि किसी पूँजीवादी देश में यह समाजवादी व्यवस्था भला कैसे सम्भव है ? तो, हम यही कहना चाहते हैं कि हमें ऐसी पुस्तक और पुस्तक नीति दो, जो मनुष्य को पूँजीभक्त की जगह समाज भक्त, राष्ट्रभक्त और ज्ञानभक्त बना दे। स्थिति तो यह है कि प्यारे भाई हजारों वर्ष पुराने की बात, पचास वर्ष पुराने (कापी राइट कानून के अनुसार) साहित्य को भी मुफ्त लेकर, छापकर और बेचकर प्रकाशक समृद्ध एवं

चलिये, आपने कमीशन मुंह पर मारकर किताब को पुस्तकालय में पहुंचा दिया, तो फिर उसे पढ़ने वाले कहां हैं? 'यूनेस्को' का सर्वेक्षण बताता है [illegible] प्रतिशत पुस्तकालय की पुस्तकें वर्षों तक रेत चाटती रहती हैं और उन्हें पढ़ने वाला नहीं होता। जिस राज्य का मंत्री, सचिव, निदेशक और बाबू महीने में एक किताब भी नहीं पढ़ता हो और दिनभर शिक्षा और समाज के विकास पर भाषण देता रहता हो, उस राज्य की प्रजा का क्या भविष्य बनेगा, यह बात आप सोच सकते हैं। जो साहब जो कुछ पढ़ते हैं, वह भी अपने देश की भाषा में नहीं, अपितु विदेशी भाषा में पढ़ते हैं। भारत के सभी रईसजादों और अफसरानों के घर की तलाशी ले लें तो वहां आपको शायद ही कोई भारतीय लेखक या प्रान्तीय लेखक की पुस्तक मिले। यदि कोई भूल से मिल भी जाये, तो वह भी किसी गरजमंद लेखक और प्रकाशक द्वारा भेंट की हुई होगी।

पहले यह बुनियादी ढांचा बनाना होगा, जिसके भीतर यह नीति फिर विकसित होगी ।

राष्ट्रीय पुस्तक नीति में यह भी नहीं समझाया गया है कि अनपढ़, अल्प-विकसित, अधकचरे पाठक और मनुष्य से किस भाषा में कोई पुस्तक बात करेगी ? सारा निचोड़ अंग्रेजी भाषा पर है । उसे विश्व-ज्ञान की खिड़की कहा गया है । यह तर्क देखकर फिर मुझे कबीर की तरह रोना और हंसी आती है कि क्या समझकर हमारे वेद-पुराण, ज्योतिष, मानवलीलाएँ और दर्शन विदेशी लोग यहाँ से उठाकर या खरीदकर ले गये थे ? अतः जिस तरह हमारी नई शिक्षा नीति भद्रलोक और अभद्रलोक (अमीर-गरीब) का निर्माण करने वाली है, ठीक उसी तरह, हमारी यह 'राष्ट्रीय पुस्तक नीति' भी भाषाई और मुनाफाई दासता से पीड़ित है । इस नीति से पुस्तक उद्योग बन जायेगी, प्रकाशक मशीन बन जायेगा तथा ये सब मिलकर फिर देश को एक पुस्तक मंडी में बदल देंगे । इस मंडी में भारत बनेगा या महाभारत बनेगा, इसकी कल्पना एक निरक्षर भी यहाँ कर सकता है ।

पुस्तक नीति का प्रस्ताव बनाते समय सभी वर्ग हित के लोग इसमें रखे गये, लेकिन जनता का प्रतिनिधि और मनुष्य का सामाजिक मनोविज्ञान का प्रतिनिधि इसमें एक भी नहीं रखा गया । नतीजा इसीलिये यह बना कि अपने अपने हित की देखो और समाज के दिशा-निर्धारण की चिंता को मारो गोली । कभी-कभी तो इस तरह की दिशाहीन रपटों को पढ़कर लगता है कि जैसे निर्णायकों ने एक कम्प्यूटर का रूप ले लिया है और सारे नतीजे ठीक वैसे ही आ रहे हैं जैसे मनुष्य और समाज नहीं चाहता ।

सोवियत संघ में पुस्तक का महत्त्व इस बात से ही समझा जा सकता है कि वहाँ लेखकों के सामने एक राष्ट्रीय और मानवीय परिप्रेक्ष्य होता है । पुस्तक तैयार होने पर उस समाज के विभिन्न विषय विशेषज्ञ पढ़ते हैं और जाँचते हैं तथा फिर पुस्तक भी सरकार, व्यवस्था, समाज (जो भी कहें) ही छापता है । ऐसी समाचार और सोवियत पुस्तकों के छपते ही हजारों व्यक्तियों की भीड़ उस दुकान के बाहर लाइन लगाकर खरीदने को खड़ी हो जाती है ।

क्या हम ऐसी कोई नीति नहीं बना सकते, जिससे सहज प्रकाशक, लेखक, विक्रेता और पाठक जुड़ाव और दिशाहीनता से जीवित बच निकलें ? यह प्रश्न करते कि किसी पूँजीवादी देश में यह समाजवादी व्यवस्था क्या कैसे सम्भव है ? तो हम यही कहना चाहते हैं कि हमें ऐसी पुस्तक और पुस्तक नीति [illegible] पूँजीपति की तरह समाज [illegible], राष्ट्रप्रेम और [illegible] बना दे । [illegible] है कि प्यारे भाई हमारी सबसे पुराने ही कला, [illegible] पुराने (किसी के अनुसार) [illegible] को भी [illegible]

ग्रविद्यावादी बन रहे हैं। इनके डर से पदाधिकारी, राजकीय प्रकाशन विभाग ग्रौर ग्रंथागारों ने पुस्तकें खरीदना बन्द कर दिया है तथा ये सब बाजार भाव के सामने प्राणायाम की मुद्रा में नहीं हैं।

'राष्ट्रीय पुस्तक नीति' की ग्रवधारणा—मोटे ग्रर्थों में हमारी जीवन-शैली ग्रौर विकास की परिकल्पना है. जिसे गंभीरता से समझना ही उचित होगा। ग्राप यह भी कह सकते हैं कि श्याम जी तो एक दिन में ही दुनिया को बदलना चाहते हैं, लेकिन ऐसा कुछ नहीं है। मैं खुद यही कहना चाहता हूं कि ग्राप परिवर्तन की सही दिशा में एक कदम तो बढ़ाइये। यदि पुस्तक भी मनुष्य को जाति, धर्म, नस्ल ग्रौर वर्ग का पाठ पढ़ायेगी, तो फिर वह पुस्तक नहीं होगी, ग्रपितु विष की वह पुड़िया होगी, जो मनुष्य को ही नहीं बल्कि उसकी परम्परा तक को भी जला डालती है। इस राजकीय दस्तावेज में न तो एक सामाजिक दायित्व बोलता है ग्रौर न ही राष्ट्रीय ग्रहसास। ग्रत: पुस्तक बनाने की पूरी प्रक्रिया पर सामाजिक नियन्त्रण एवं संरचना की ग्रावश्यकता है। यह नियन्त्रण—बैंकों के राष्ट्रीयकरण, विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता ग्रौर सहकारी संस्थानों की वर्गीय प्रभुसत्ता जैसा भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि पुस्तक ग्रौर मनुष्य में फर्क है। जहां मनुष्य पुस्तक लिखता है, वहां पुस्तक भी मनुष्य को लिखती है। ग्रत: पुस्तक ग्रौर मनुष्य एक दूसरे के पूरक ग्रौर पर्याय हैं। किसी देश में किसी व्यक्ति का जितना सम्मान है, उतना ही सम्मान उस देश में किसी पुस्तक का भी होना चाहिये।

बचपन में एक विज्ञापन पढता था कि जब ग्राप मांग कर खाते नहीं, मांग कर पहनते नहीं तो फिर, मांग कर पढ़ते क्यों है ? लेकिन, इस सच्चाई को भी नजर-ग्रंदाज नहीं किया जा सकता कि हम जिससे रोटी मांग रहे हैं, वह तो खुद शताब्दियों से भूखा है। भूख की संवेदना से जब तक हम नहीं जुड़ते है, तब तक कोई भी नीति हमारे में कोई भी परिवर्तन, विकास ग्रौर सुधार नहीं ला सकती। मैंने महर्षि वेदव्यास, गोर्की, टालसटाय, पाब्लो नेरुदा, कार्लमार्क्स, गांधी, नेहरू, रवीन्द्र, भारती, प्रेमचंद, फैज, रसूल हमजातोव, कालिदास, भवभूति, तिरुवल्लुवर, बल्लेशाह, फिरदौस, ग्ररस्तू, विवेकानन्द, खलील जिब्रान जैसों को कभी नहीं देखा है, किन्तु मैं उन्हे पुस्तक पढ़कर ग्रपना ग्रादर ग्रौर प्यार देता हूं, उनमें रास्ता पाता हूं। इसीलिये, मैं पुस्तक पढ़ता हूं ग्रौर पुस्तकों की राष्ट्रीय नीति ही नहीं, ग्रपितु एक देश, समाज ग्रौर मानवता का भविष्य समझता हूं।

19-6-86

डरावना मौसम

महाभारत मे जिस तरह कौरव ग्रापस मे लडकर मारे गये थे, कई बार वैसा ही दृश्य हमे ग्रपने स्वतंत्र भारत मे दिखाई देता है। मैंने एक वरिष्ठ नेता से बातचीत मे देश की वर्तमान स्थितियों पर चिन्ता प्रकट की, तो वे पाव फैलाकर कहने लगे—"वैद जी, यह 75 करोड की ग्रावादी वाला महादेश है, इसलिये लडाई-भिडाई ग्रौर मारकाट ग्रौर उपमवाजी का यहा सामान्य जनता पर कोई ग्रसर नही पडता है। भगवान की कृपा से सब कुछ ग्रपने ग्राप ठीक हो जायेगा।"

एक राजनेता भले ही यह नुस्खा बताये पर मुझे ग्राजादी के बाद पहली बार देश एक टूटन की कगार पर दिखाई देता है। भगवान को तो मै जानता ग्रौर मानता नही हू, ग्रत: उनकी मेहरबानियो का क्या बयान करू ? लेकिन, जनता को मै थोडा पहचानता हू ग्रौर उसके वर्तमान तौर तरीके से लगता है कि हम पुन लौटकर दसवी शताब्दी मे चले गये है ग्रौर कालिदास की तरह उसी डाली को काट रहे हैं, जिस पर कि हम बैठे हैं।

शायद ही किसी देश मे ग्राज के दिन व्यक्ति इतना ग्रसुरक्षित होगा। हर बीमारी की दवा ग्रब धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्र ग्रौर स्वायत्तता के अदर खोजी जाती है। एक ही देश मे बहने वाली नदियो के पानी के लिये मरते झगडते राज्य यहा देखे जा सकते हैं। एक ही ससद, विधानसभा के लिये यहा जातियो के उम्मीदवारो को मरते मिटते पाया जाता है। एक ही धरती पर भाषाई जुनून मे ग्रादोलन करने की बीमारी यहा फैल चुकी है तथा धर्म एव क्षेत्रीयता के नाम पर स्वायत्तता की माग लिये परचम लहराते हुये ग्रब यहा के पढे लिखे लोगो को दौडते भागते देखा जा सकता है। इतिहास की यह विडबना ही है कि हम स्वतत्र भारत मे ग्रपने ही सत्यानाश का महाभारत लड रहे है।

सिक्किम के मुख्यमत्री कहते हैं कि हमे भारत से ग्रधिक चावल मिलना चाहिये। कश्मीर का व्यक्ति दूसरे राज्य से ग्राये व्यक्ति को हिंदुस्तान से ग्राने वाला बताता है। महाराष्ट्र मे 'धरतीपुत्र' का ग्रादोलन हो रहा है तथा पजाब के कुछ सिख ग्रपने को खुले ग्राम 'खालिस्तान' बनाने के लिये प्रतिबद्ध दिखाई पड़ते है। यह सब कौनसी राजनीति है ग्रौर सामाजिक संस्कृति है, इसका ग्रनुमान लगना ग्रब बहुत कठिन कार्य है। हर क्षेत्र, राज्य ग्रौर नागरिक का ग्रपना ग्रलग देश बनता जा रहा है तथा हर नागरिक ग्रपना स्वतत्र सविधान लिखने मे यहा व्यस्त है।

हम बस में लाइन लगाकर टिकट नही खरीद सकते, हम सिनेमा मे बिजली चले जाने पर सीटिया बजा बजाकर चिल्लाने लगते है, हमे फर्जी राशन कार्ड से

सुविधावादी बन रहे हैं। इनके डर से पराङ्मुखी, राजकीय प्रकाशन विभाग और प्रकाशकों ने पुस्तकें छापना बन्द कर दिया है तथा ये सब बाजार भाव के सामने प्राणायाम की मुद्रा में खड़े हैं।

'राष्ट्रीय पुस्तक नीति' की अवधारणा—मोटे अर्थों में हमारी जीवन-शैली और विचार की परिकल्पना है, जिसे गंभीरता से समझना ही उचित होगा। आप यह भी कह सकते हैं कि व्यास जी तो एक दिन में ही दुनिया को बदलना चाहते हैं, लेकिन ऐसा कुछ नहीं है। मैं खुद यही कहना चाहता हूं कि आप परिवर्तन की सही दिशा में एक कदम तो बढ़ाइये। यदि पुस्तक भी मनुष्य को जाति, धर्म, नस्ल और वर्ग का पाठ पढ़ायेगी, तो फिर वह पुस्तक नहीं होगी, अपितु विष की वह पुड़िया होगी, जो मनुष्य को ही नहीं बल्कि उसकी परम्परा तक को भी जला डालती है। इस राजकीय दस्तावेज में न तो एक सामाजिक दायित्व बोलता है और न ही राष्ट्रीय प्रहसास। अतः पुस्तक बनाने की पूरी प्रक्रिया पर सामाजिक नियन्त्रण एवं संरचना की आवश्यकता है। यह नियन्त्रण—बैंकों के राष्ट्रीयकरण, विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता और सहकारी संस्थानों की वर्गीय प्रमुसत्ता जैसा भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि पुस्तक और मनुष्य में फर्क है। जहां मनुष्य पुस्तक लिखता है, वहां पुस्तक भी मनुष्य को लिखती है। अतः पुस्तक और मनुष्य एक दूसरे के पूरक और पर्याय हैं। किसी देश में किसी व्यक्ति का जितना सम्मान है, उतना ही सम्मान उस देश में किसी पुस्तक का भी होना चाहिये।

बचपन में एक विज्ञापन पढ़ता था कि जब आप माग कर खाते नहीं, माग कर पहनते नहीं तो फिर, माग कर पढते क्यों हैं? लेकिन, इस सच्चाई को भी नजर-अंदाज नहीं किया जा सकता कि हम जिससे रोटी माग रहे है, वह तो खुद शताब्दियों से भूखा है। भूख की संवेदना से जब तक हम नहीं जुड़ते हैं, तब तक कोई भी नीति हमारे मे कोई भी परिवर्तन, विकास और सुधार नही ला सकती। मैंने महर्षि वेदव्यास, गोर्की, टालसटाय, पाब्लो नेरुदा, कार्लमार्क्स, गाधी, नेहरू, रवीन्द्र, भारती, प्रेमचंद, फैज, रसूल हमजातोव, कालिदास, भवभूति, तिरुवल्लुवर, बल्लेशाह, फिरदौस, अरस्तू, विवेकानन्द, खलील जिब्रान जैसों को कभी नहीं देखा है, किन्तु मैं उन्हें पुस्तक पढ़कर अपना आदर और प्यार देता हूं, उनमें रास्ता पाता हूं। इसीलिये, मैं पुस्तक पढ़ता हूं और पुस्तकों की राष्ट्रीय नीति ही नहीं, अपितु एक देश, समाज और मानवता का भविष्य समझता हूं।

19-6-86

डरावना मौसम

महाभारत मे जिस तरह कौरव आपस मे लड़कर मारे गये थे, कई बार वैसा ही दृश्य हमे अपने स्वतंत्र भारत मे दिखाई देता है। मैंने एक वरिष्ठ नेता से बातचीत मे देश की वर्तमान स्थितियो पर चिंता प्रकट की, तो वे पांव फैलाकर कहने लगे-"वैद जी, यह 75 करोड़ की आबादी वाला महादेश है, इसलिये लड़ाई-भिड़ाई और मारकाट और ऊधमबाजी का यहा सामान्य जनता पर कोई असर नही पड़ता है। भगवान की कृपा से सब कुछ अपने आप ठीक हो जायेगा।"

एक राजनेता भले ही यह नुस्खा बताये, पर मुझे आजादी के बाद पहली बार देश एक टूटन की कगार पर दिखाई देता है। भगवान को तो मैं जानता और मानता नही हू, अतः उनकी मेहरबानियो का क्या बयान करू? लेकिन, जनता को मैं थोड़ा पहचानता हू और उसके वर्तमान तौर तरीके से लगता है कि हम पुन लौटकर दसवी शताब्दी मे चले गये है और कालिदास की तरह उसी डाली को काट रहे हैं, जिस पर कि हम बैठे हैं।

शायद ही किसी देश मे आज के दिन व्यक्ति इतना असुरक्षित होगा। हर बीमारी की दवा अब धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्र और स्वायत्तता के अदर खोजी जाती है। एक ही देश मे बहने वाली नदियो के पानी के लिये मरते झगड़ते राज्य यहा देखे जा सकते हैं। एक ही ससद, विधानसभा के लिये यहा जातियो के उम्मीदवारो को मरते मिटते पाया जाता है। एक ही धरती पर भाषाई जुनून मे आदोलन करने की बीमारी यहा फैल चुकी है तथा धर्म एव क्षेत्रीयता के नाम पर स्वायत्तता की माग लिये परचम लहराते हुये अब यहा के पढे लिखे लोगो को दौड़ते भागते देखा जा सकता है। इतिहास की यह विडबना ही है कि हम स्वतत्र भारत मे अपने ही सत्यानाश का महाभारत लड रहे है।

सिक्किम के मुख्यमत्री कहते है कि हमे भारत मे अधिक चावल मिलना चाहिये। कश्मीर का व्यक्ति दूसरे राज्य से आये व्यक्ति को हिदुस्तान से आने वाला बताता है। महाराष्ट्र मे 'धरतीपुत्र' का आदोलन हो रहा है तथा पजाब के कुछ सिख अपने को खुले आम 'खालिस्तान' बनाने के लिये प्रतिबद्ध दिखाई पड़ते है। यह सब कौनसी राजनीति है और सामाजिक सस्कृति है, इसका अनुमान लगना अब बहुत कठिन कार्य है। हर क्षेत्र, राज्य और नागरिक का अपना अलग देश बनता जा रहा है तथा हर नागरिक अपना स्वतत्र सविधान लिखने मे यहा स्वतत्र है।

हम बस मे लाइन लगाकर टिकट नही खरीद सकते, हम सिनेमा मे बिजली चले जाने पर सीटियां बजा बजाकर चिल्लाने लगते है, हमें पर्ची राशन कार्ड मे

अनाज खरीदने में साहस नजर आता है । हम जाति, प्रांत, सेवा और वर्ग के आधार पर आरक्षण लेने के लिये जोड़ तोड़ करते हैं तथा हम व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये परिवार क्या, अपने देश को भी गिरवी रख सकते हैं । 'पहले मैं और पहले मेरा काम' करवाने के लालच मे हम इतने नंगे और बेशर्म बन चुके है कि देश और समाज हमारी नजरों में कोई महत्व नही रखता ।

सत्तादल में बोगस (नकली) सदस्यता की समस्या का झगड़ा उठ आया है । सामाजिक-आर्थिक न्याय के लिये संघर्ष करने वाले अनपढ़ आदिवासियो को पुलिस और सामंतो की सेवाएं मिलकर मार रही हैं । हाजी और गाजी तथा मस्तान और पटेल यहा तस्करी के धन से शहर में बंद और आंदोलन करवा देते है । यहा मुनियो के चतुर्मास पर लाखो रुपये खर्च होते हैं, यहां शकराचार्य के मनोनयन पर करोड़ो की राजनीति चलती है, यहा भ्रष्टाचार एव दो नबर के काले धन को ट्रस्ट तथा मंदिर बनवाने मे लगाया जाता है, यहां अल्लाह और ईसा के नाम पर हमारी गरीबी को खरीदा जाता है तथा हमारे यहा वाल भगवान जैसे व्यक्ति भी मौजूद है, जो अमरीका में रहते हुये भी भारत को अपने भक्तों की मंडी की तरह लगातार इस्तेमाल करते हैं । भ्रष्टाचार जहा शिष्टाचार हो, शिक्षा जहां व्यापार हो, सरकारी नौकरी जहा दहेज की कन्या हो, आजादी जहा दूसरे को गुलाम बनाने का साधन हो, भाषा जहां असहिष्णुता का हथियार हो, न्यायालय जहा गरीब बेवा का श्रृंगार हो, समाचार पत्र जहा विज्ञापनों की तलवार हो, थानेदार जहा वर्दी पहने बलात्कार हो, समाजसेवा जहा लघु उद्योग का कच्चा माल हो, नौकरशाही जहा वचन बिन कन्या हो, संस्कृति और साहित्य जहा राजा की खड़ाऊं हो, वहा, मेरे प्यारे भाई भारतवर्ष कहा होगा, मुझे यह समझने मे बहुत दिक्कत हो रही है ।

जहा सत्य बोलने वाले को पागल कहा जाता हो, गभीर बात करने वाले का असामाजिक तत्व माना जाता हो, दहेज नही लेने देने वाले को [illegible] कहा जाता हो, जहा भ्रष्ट-अन्याय का विरोध करने वाले को सरकार और समाज का दुश्मन समझा जाता हो, जहा धोती पहनने और हिंदी बोलने वाले को दूसरी श्रेणी का नागरिक माना जाता हो, जहा विधवा सिंदूर-काजल लगाती हो, [illegible] [illegible] व्यापार होता हो, जातियो के सगठन और सेनाओं का उद्घाटन मंत्री [illegible] [illegible] करते हो, मेट्रो साहित्यकारो का मार्गदर्शन करते हो, पत्रकार और पुलिस [illegible] [illegible] प्रतियोगिताए होती हों, वहा यार और मेरे जैसो का भला क्या ठिकाना ? '[illegible] [illegible] [illegible] करना और इसी भाव मे रहना ।' पूरी आबादी मे 25-27 [illegible] [illegible] वाले है, तो बाकी सबके [illegible] [illegible] बराबर है । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] देखा मरहुआ (गरीब) [illegible] कहना है ।

[illegible] देश मे पजाब का [illegible]-[illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] पर है । [illegible] मे यह गावो के [illegible] मे उथल-पुथल मची हुई

है। पंजाब में हिन्दू परिवार देश के दूसरे राज्यों में जा रहे हैं। कर्नाटक के सीमावर्ती क्षेत्रों में भाषाई आन्दोलन चल रहा है। बेलगाम-कारवार में कन्नड़ी और मराठीभाषी उलझे हुए हैं। आसाम में [illegible] विदेशियों को निकाले जाने के मसले में अंदर ही अंदर लामबंद हो रहे हैं। मणिपुर, अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम में ईसाई मिशनरियों की हलचल [illegible] और स्कूलें चला रही हैं, कश्मीर में आज भी पाकिस्तान समर्थक नारों के जुलूस निकलते हैं। उड़ीसा में गरीब आदिवासी अपने बच्चों (विशेषकर लड़कियों) को बेचते हैं। बंगाल में 'गोरखालैंड' की मांग उठ रही है। बिहार में झारखंड राज्य बनाने का आंदोलन है, महाराष्ट्र में 'विदर्भ राज्य' की मुहिम चल रही है जो राजस्थान जैसे सीधे-सादे सहिष्णु राज्य में भी लोगों के दिल और दिमाग द्वारा पूर्व और पश्चिमी क्षेत्र के संदर्भ लगाकर स्थितियों को समझा जाता है। यहीं नहीं तमिलनाडु में श्रीलंका के मामलों ने पूरे प्रदेश को बेचैन बना रखा है और आंध्र प्रदेश में राम-राज्य के कागजी घोड़ों पर जनता को बैठाया जा रहा है तो केरल में सांप्रदायिकता का जहर जातीय संगठनों के द्वारा बोया जा रहा है। त्रिपुरा में पहाड़ी आदिवासी शहरी सत्ता और शोषण के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह कर रहे हैं। पता नहीं अब आगे क्या होगा? और हमारी ताकत किस तरह देश को टुकड़े-टुकड़े करने का आन्दोलन चलायेगी? हाँ, पूरे देश में राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश एवं [illegible] ही फिलहाल इस तरह के संकीर्ण एवं राष्ट्रघाती आन्दोलनों से बचे हुए हैं। लेकिन राजस्थान में भी जाट और राजपूतों का वागड़ में अपना आदिवासियों का और छोटी-छोटी क्षेत्रीय संस्कृति और निहित स्वार्थों की सरगर्मियां दबे पांव आगे बढ़ने में संलग्न है। यही कारण है कि वागड़ में दो चार वर्ष पहले के समर्थक लोग आज स्वतन्त्र वागड़ भाषा, संस्कृति और इतिहास के लंबे चौड़े नारे लगा रहे हैं। इनका विरोध मूलत: राजस्थान से ही नहीं, अपितु अपनी स्वतन्त्र प्रभुसत्ता फैलाने का है।

ऐसी विघटनकारी परिस्थितियों के बीच हम जब बार-बार महात्मा गांधी, नेहरू, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, गोखले, तिलक, अब्दुल कलाम आजाद आदि की प्रामाणिकता पर चर्चा करते हैं, तो मन में हंसी भी आती है और रोना भी आता है कि हम कितने महान् बनते जा रहे हैं, जो हर गुजरा हुआ हमारे लिये आज अप्रामाणिक बन गया है।

देश की यह मानसिकता बहुत खतरनाक है। आजादी के बाद विपक्षी दलों कि फूट ने, विचारहीनता ने, उन सबको मजबूत बनाया है, जो अपने को अब जन्म-जात सत्तावादी कहने लगे हैं। आखिर, जनता वोट देने के बाद किसके पास जाये? पंजाब की जनता ने यह बात कभी नहीं सोची थी कि सरकार बनाने के बाद अकाली दल अतिरिक्त असंवैधानिक प्रपंचों में उलझ जायेगा। नदियों ने कब सोचा था कि उनकी एक-एक बूंद के लिये किनारे पर खड़े गांव और शहर लड़ेंगे? गंगा-कावेरी-

नर्मदा ने कब सोचा था कि उन्हें राज्यों में बांट दिया जायेगा तथा 'राजतरंगिणी' के रचयिता ने कब सोचा था कि लोगों के दिलों में आगे चलकर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान बन जायेंगे ?

दर असल! यह मौसम बहुत डरावना है। अकेला प्रधान मन्त्री या सरकार हर मर्ज की दवा नहीं हो सकती। जब निहित स्वार्थ और संकीर्ण भावनाएँ हवा में तैर रही हों, तब हम एकता से ही इस तूफान का सामना कर सकते हैं। कई लोग तसल्ली से कहते हैं—'कुछ बात है, कि हस्ती मिटाये नहीं मिटती।' लेकिन, मुझे तो अब हर क्षण यही लगता है कि यह शेरो शायरी अब लोगों के दिलों से समाप्त होती जा रही है। 'जनगणमन अधिनायक जय हे' को लोग भूलते जा रहे हैं। 'वंदे मातरम्' को याद रखने में परेशानी हो रही है तथा 'सारे जहाँ से अच्छा, हिन्दुस्ताँ हमारा' अब कबीरदास की 'उलटवासी' की तरह समझ के बाहर का विषय बनता जा रहा है।

आप मानें या नही मानें, हमारे यहाँ दो ही जातियाँ हैं—गरीब और अमीर। आप कहें या नही कहें, हमारा एक ही देश है—भारत, आप बोलें या नहीं बोलें—हमारी एक ही भाषा है—जनता की एकता, आप सुनें या नही सुनें—हमारे देश का एक ही रास्ता है—लोकतन्त्र, समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता का। प्रश्न केवल एक ही है कि हम विघटन और स्वय राज्य के सपने बेचने वालों का मन कैसे बदलें—ताकत से या समझबूझ से ? अतः आप भी आइये और जनता के मन को देश के लिये प्रतिबद्ध बनाने मे रचनात्मक स्तर पर व्यक्तिगत पहल के साथ जुड़ जाइये।

12-6-1986

संस्कृति का अर्थ

'संस्कृति' एक जीवन-दर्शन होती है तथा इसमें जीवन और जगत के सभी प्रश्नो का उत्तर आसानी से खोजा जा सकता है। दुनिया के सभी भागों में संस्कृतियों का अलग-अलग रूप और इतिहास है, लेकिन इसके भीतर छिपी मनुष्य की अन्तश्चेतना समान है। क्योंकि भारत को अपनी संस्कृति पर नाज है (यह होना भी चाहिये) :: यहाँ पर संस्कृति को लेकर बहुत कुछ लिखा—कहा गया है तथा बराबर कहा : रहा है। वैदिक संस्कृति से लेकर परमाणु संस्कृति तक की दुनिया का भाष्य

ह बताता है कि संस्कृति कोई स्थाई, जड़ और स्थिर कल्पना नहीं है अपितु इसमें
नुष्य के बदलाव और सामाजिक विकास की पूरी प्रक्रिया समाहित रहती है।

लेकिन यह संस्कृति जनता के जीवन की भाषा है। अतः हम जब-जब संस्कृति
ो ओर चलते हैं हमें जनता से भीतर तक जुड़ना पड़ता है, उसके सभी लोकरूपों
 झांकना पड़ता है। हमारे आचार-विचार, मेले-मण्डल, गीत-नृत्य, शादी-रिश्ते,
ोज-त्यौहार, खाना-पहनना यानि सब कुछ किसी न किसी रूप में हमारी सामाजिक
्व आर्थिक संस्कृति की बनावट को ही बताते हैं। यह प्रश्न अलग है कि हम
ंस्कृति को विकास के क्रम में उसे एक पिछड़ापन मानकर नकारने चले जायें तथा
ासे उपयोगीवाद के अनुसार व्याख्यायित करने लग जाय। अत ऐसी स्थिति में
ांस्कृति को सबसे बड़ा खतरा उसके निर्माता मनुष्य से ही होने लगता है। कुछ लोग
यह मानते हैं कि मनुष्य ही संस्कृति का निर्माण करता है तो कुछ लोगों का यह
मानना है कि संस्कृति ही मनुष्य का निर्माण करती है। यह अवधारणाएं मूलतः
एक-दूसरे की परक-पूरक हैं तथा इन्हें अलग करते ही मनुष्य के स्वभावगत विरोधा-
भास जन्म लेने लगते हैं। अतः हमें संस्कृति को मानव समाज की समग्र पहचान के
रूप में देखना चाहिये। *उद्योग, विज्ञान और बढ़ते मानवीय अर्थशास्त्र ने भले ही
संस्कृति को एक बीते युग की बात बनाने का प्रयास किया हो लेकिन इस विकास के
पीछे भी एक आधारभूत संस्कृति ही होती है जो उसे जीवन और धरती से
जोड़ती है।*

संस्कृति को लेकर बीसवीं शताब्दी की वहम और परेशानी के कारण मूलतः
संस्कृति जन्म नहीं है अपितु निहित स्वार्थ और व्यक्तिवादी दर्शन के प्रतिफल है।
आज मानव संस्कृति से लेकर उसकी मृत संस्कृति (मूरित कल्चर) तक पर प्रयोग-
शालाएँ काम करने लगी हैं तथा संस्कृति की महत्ता इस बात में ही आंकी जा सकती
है कि हम अब हर प्रणाली को उसके सांस्कृतिक-विश्लेषण और गुण-दोष के संदर्भ
से देखते हुए उस व्यवस्था को एक 'संस्कृति' के रूप में प्रस्तुत करते हैं। महानगर
की संस्कृति, नौकरशाही की संस्कृति, खेती संस्कृति, वैज्ञानिक संस्कृति, राजकीय
संस्कृति जैसे कई मुहावरे अब हमारे बीच धड़ल्ले से प्रचलित हैं। वस्तुतः यह संस्कृति
शब्द का प्रयोग—इसकी गुणवत्ता को तो मानता है लेकिन यह विभाजन इस बात
को भी स्थापित करता है कि हम विभाजित हो रहे हैं तथा हमारी सांस्कृतिक एक-
रूपता अब धीरे-धीरे तात्कालिक अखाड़ों की पहचान में बदलती जा रही है। इस
परिवर्तन के पीछे मूल कारण हमारे समाज में आने वाला सामाजिक, आर्थिक एवं
राजनैतिक बदलाव है। जिस तरह धर्म का आदर्श रूप धीरे-धीरे मत, महन्त,
भगवान और जातिगत सम्प्रदायों में बदल गया उसी तरह दर्शन का विचार भी
धीरे-धीरे दल, झण्डे, घोषणा-पत्र और सत्तामुखी दलों में बदलता गया। इसी तरह
आज संस्कृति भी दिनों-दिन गांव-शहर, अमीर-गरीब, किसान-दास्तान और सत्ता-

प्रतिष्ठानों के नाम पर अपने बदले हुए रूप एवं गुणों से देखी जाने लगी है। हम जब संस्कृति को एक इकाई और दर्शन के रूप में देखते हैं तो मस्तक गर्व से उठ जाता है तथा ज्योंही हम इसे व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के रूप में देखने लगते हैं तो सबसे पहले संस्कृति की प्रासंगिकता का सवाल हमारे सामने आ जाता है। यही कारण है कि हम अब संस्कृति को संग्रहालयों में सुरक्षित करने के लिये अधिक आतुर हैं तथा इसकी सूखती जड़ों को हरा करने के प्रति उदासीन हैं।

संस्कृति के प्रति जैसे-जैसे हमारी चिन्ताए बढ़ती है वैसे-वैसे हमारी संस्कृति मे अनेक बाधाए और भटकाव भी आने लगते हैं। क्योंकि गांवों में हमारी जो निश्चल और असल सांस्कृतिक जड़ें जीवित हैं वे कोई चिन्ता और बहस के बल पर अथवा सत्ता प्रतिष्ठानों के बल पर जीवित नहीं हैं। उसकी निरन्तरता सही मायनो में वहां के जन-जीवन की अबाध बहती जीवन गंगा से परिभाषित होती है। जिस तरह गंगा शब्द हमारी संस्कृति का पर्याय बन गया है उसी तरह होली-दीवाली, तीज-गणगौर, ओणम, पोंगल, बैसाखी, चेती-चण्ड, ईदुल-फितर, रमजान, ईदुज्जुहा, बीहू आदि त्यौहार दिन भी हमारी भीतरी संस्कृति के पर्याय बन गये हैं। हमारे मेले, नृत्य, गीत, पहनावे, निदान सब कुछ इस संस्कृति के ही अंग हैं। यह सारे प्रतीक इस बात के साक्षी हैं कि हमारी एक परम्परा है, परिपाटी है, परिदर्शन है जो हमें एक-सम्पूर्ण मनुष्य होने की पहचान देता है। यह संस्कृति उस क्षेत्र के भूगोल, इतिहास, ऋतुचक्र, कृषिलोक और वैचारिक आवागमन से बनती है तथा शताब्दियो तक एक के बाद दूसरी पीढ़ी को विरासत में मिलती रहती है। यह विरासत ही हमारी धरोहर होती है तथा इसी के बल पर हम अपने आपको (देश को) सम्पन्न एवं गौरवशाली बताते हैं। लेकिन विरासत का अर्थ गुणो का संग्रहालय बनाने और उसकी रक्षा के लिये कानून-कायदे और ट्रस्ट-संस्थान-अनुसंधान केन्द्र बनाने से नहीं होता। ये सभी परिकल्पनाएं मनुष्य में शैक्षिक, आर्थिक एव दुनिया की दूरियां सिमटने की वजह से आने वाले दबाव हैं जो गंगा की धारा को नहीं मोड़ते अपितु उसमें समसामयिक प्रदूषण भी उत्पन्न करते हैं। हम यह नही मानते कि मनुष्य कोई जड़ इकाई है तथा उसमें बदलाव नही आना चाहिए। मनुष्य कोई ऐसा संविधान नहीं है जिसे बदला नही जा सकता हो। लेकिन इस सांस्कृतिक बदलाव का यह अर्थ भी गले नहीं उतरता कि हम अपनी क्षणिक एवं सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अपनी सम्पन्न भूमिका तथा पीठिका को ही बदल दें। यहां यह भी आवश्यक नहीं है कि हम मनुष्य समाज से उत्पन्न विकास क्रम को रोककर विगत से ही चिपके रहे हैं। यह एक विलक्षण-संतुलन है जिसे बनाये रखने में जो समाज जितना अधिक सफल रहता है वह समाज उतना ही अधिक प्रासंगिक और गरिमापूर्ण मनुष्य बनाने मे भी कामयाब रहता है। आज जब हम तुलसी, सूर, कबीर, कार्लमार्क्स, रवीन्द्रनाथ टैगोर, प्रेमचन्द आदि की प्रासंगिकता पर विचार-विमर्श जोड़ते हैं तो उसका अर्थ

ही रहना है कि आज की चुनौतियों के बीच इन प्रतीक पुरुषों की अच्छी और ग़ामी बातों को समझते हुए इनके गुणों का लाभ उठाया जाय। अतः संस्कृति पने अंदित गुणों को खोने में नहीं है अपितु उन्हें फिर से पहचानने और प्राप्त रने में है।

आज जो लोग संस्कृति को अपनी अस्मिता मानते हैं वे भी कई अवसरों पर ढ़िवादिता से ग्रस्त हो जाते है, आज जो लोग संस्कृति को एक विगत इतिहास ानते हैं वे भी अनेक अर्थों में पूर्वाग्रह से जुड जाते है, आज जो लोग सस्कृति को क नशाव मानते हैं वे भी कई मायनो मे आत्मप्रवचना के शिकार रहते हैं। अतः संस्कृति न तो कोई विगत है और न ही कोई आगत। यह तो एक अनवरत जीवन-दर्शन है जिसे बराबर समय और काल की कसौटी पर कसते रहना चाहिए तथा युग-विकास एव सामाजिक बदलाव के प्रसंग मे सतुलन बनाते हुए अनुकूल ढग से आगे बढाते रहना चाहिए।

आज सस्कृति के सामने कई सकट है। यह समस्याएँ जहाँ मनुष्य के परिवर्तन को बताती है वहा उसमे सोये को जगाने का सकेत भी देती है। जब गांव, खेत-खलिहान, मेले-ठेले, वार-त्यौहार, अस्त्र-शस्त्र, उठना-बैठना, रोना-हसना सब कुछ बदल रहा हो तो फिर निश्चय ही सस्कृति के धरातल मे भी बदलाव आयेगा ही। अब हम पाबूजी की फड बाचकर, कठपुतली से राजा-बादशाहो की लडाई को दिखाकर, मेलो मे मन्दिरो मे देवी-देवताओ के गीत गाकर समय के साथ नही चल सकते। अब हम हल और ट्रैक्टर की खेती को एक साथ नही जोड सकते, अब हम शादी-ब्याह पर घोडी और बन्नें का गीत—बैंड बाजो की धुनो पर नही गा सकते—क्योंकि यह बदलाव जो हमारी शिक्षा, व्यवसाय और समय से आगे चलने की आवश्यकता से आया है अतः हमे इसी तरह के सभी छोटे-छोटे बदलावों मे एक ऐसा सामजस्य स्थापित करना होगा, जिससे कि आवरण और मन की रगत का अर्थ एक ही निकले। जब जन भाषाएँ बदल रही हैं तब मनुष्य की सस्कृति भी बदलेगी और जब सस्कृति बदलेगी तो हमे सस्कृति के प्रति अपनी व्याख्या, लगाव और जिम्मेदारी को भी बदलना पडेगा। सस्कृति पर यहाँ तक बहस तो ठीक है कि उसके शाश्वत गुणो को समाप्त न होने दिया जाय लेकिन सस्कृति पर यह बहस अनावश्यक है कि बैलगाडी की सस्कृति अच्छी थी या रेल और हवाई जहाज की सस्कृति अच्छी है। क्योंकि इस बदलाव के पीछे मनुष्य का विकास बोलता है तथा इस सबके पीछे उसका आर्थिक विकास और मानसिक विकास भी परिलक्षित होता है।

लेकिन हमारे देश मे सस्कृति की मूल समस्या सामाजिक-आर्थिक विकास से आया हुआ बदलाव नही है अपितु विज्ञान और ज्ञान के बढते व्यवसायीकरण से

उत्पन्न खतरा है । हम यह जानना चाहते हैं कि—आज किलों, महलों और मन्दिरों को बेचने के पीछे कौन-सा सांस्कृतिक दर्शन काम कर रहा है ? हम समझना चाहते हैं कि तीज-त्यौहार एवं मेलो को विकासवादी पशुमेलों में तथा खुले शराब घर एवं विदेशी मौज-मस्ती की सामग्री से क्यों जोड़ा जा रहा है ? हम यह जानना चाहते हैं कि पर्यटन से विदेशी मुद्रा कमाने के लिए हमारी संस्कृति को एक देवदासी और रूपवती नर्तकी की तरह क्यो इस्तेमाल किया जा रहा है तथा हम यह भी पूछना चाहते है कि संस्कृति के क्षेत्र में सत्ता और प्रतिष्ठानों तथा विदेशी पूँजी का दखल क्यो बढाया जा रहा है ?

इसी उपभोक्ता संस्कृति का परिणाम है कि आज गांव के गीत-नृत्य और पहनावे शहरों के भद्रजनो की मनोरंजन सामग्री बन गये हैं, कम पढ़े-लिखे ग्रामीणों का जीवन-सौन्दर्य सम्पन्न वर्ग के संग्रहालयो के प्रदर्शन की वस्तु बन गया है तथा भारत की संस्कृति को एक व्यावसायिक प्रतिष्ठान की तरह सुरक्षित रखने की चेष्टा की जा रही है । अमेरिका, सोवियत संघ, ब्रिटेन, मिश्र आदि ने तो कभी भी अपनी संस्कृति को नुमाइश का सामान नहीं बनाया । फिर हमे आज कौन-सी आवश्यकता आ गई है कि हम अपने हर गुण को खिड़कियाँ खोल-खोलकर बेच रहे हैं । इस समसामयिक मानसिकता पर हमें गंभीरता से विचार करना चाहिये । एक देश और एक वेश की बात कहने वाले अब एक भाषा की बात करने लगे हैं और कल ये हो सकता है कि एक रंग, एक रूप और एक ही भोजन-पानी की बात करें । यह तुर-बंदी, व्यापक अर्थों में तो एकता की भावना को दर्शाती है पर मूल रूप से हमारी सांस्कृतिक सम्पन्नता और विविधता को भी नकारती है । यह संस्कृति का सही अर्थ कदापि नहीं है । वस्तुतः संस्कृति की मूल प्रेरणाएं हमें जोड़ती हैं, व्यापक जीवनदर्शन हमें जोड़ता है, और संस्कृति के अनेक रूप हमें आनन्द और सम्पूर्णता का बोध कराते हुए—उस पर गौरव महसूस करने का आधार देते हैं । अतः मेरा मानना है कि 'संस्कृति' एक बहुअर्थवान और व्यापक विषय है तथा इसके धागे जीव-चराचर सभी में मिले हुए हैं । कुछ शब्दों से न तो संस्कृति को समझा जा सकता है और न ही उसके भीतर छिपे सौन्दर्य को पहचाना जा सकता है । संस्कृति एक ऐसा प्रभा-मण्डल है जिसे दुनिया में खोजने की जगह—अपने घट में ही खोजना चाहिए ।

संस्कृति से जुड़े कुछ सवाल प्रस्तुत हैं-(1) राजस्थान में स्वतंत्र संस्कृति मंत्रा-लय बनाये जाने के बाद अब हमें एक व्यापक एवं भविष्यगामी सांस्कृतिक रीति-नीति भी बनानी चाहिये । (2) राज्य मे कार्यरत संस्कृति संस्थानों और अकादमियों के कार्यों का प्रासंगिक मूल्यांकन होना चाहिये तथा इनके कार्यक्रमों मे सामंजस्य एवं एकजुटता स्थापित की जानी चाहिये (3) संस्कृति विभाग के अंतर्गत सभी भाषा अकादमियों को भी जोड़ा जाना चाहिये, क्योंकि भाषाएं मूलतः संस्कृति का अंग है । इन्हें शिक्षा विभाग मे जोड़े रखना संस्कृति को अपूर्ण बनाये रखना मात्र है ।

(4) संस्कृति मंत्रालय को संस्कृति, कला एवं साहित्य से संबंधित एक पत्रिका का
प्रकाशन भी करना चाहिये ताकि संस्कृति की सम्पन्नता और प्रतिभाओं को जनता तक
पहुंचाया जा सके। (5) राज्य में कलाकार एवं सृजनधर्मियों के लिये स्वतंत्र कल्याण
कोष स्थापित किया जाना चाहिये (6) संस्कृति के स्वरूपों एवं प्रतीकों की सुरक्षा
करते हुए उनके व्यापार को रोका जाना चाहिये साथ ही संस्कृति को भद्र-लोगों के
मात्र मनोरंजन का सामान नहीं बनाया जाना चाहिये। (7) संस्कृति के क्षेत्र में
व्यवसायियों एवं गैर कलाकारों की चौधराहट समाप्त करने के साथ-साथ कला एवं
कलाकारों का शोषण बंद किया जाना चाहिये (8) इसके साथ ही क्षेत्रीय संस्कृति
केन्द्र, अकादमियां आदि का कार्य निर्धारण करते हुए इनके दूर तक विकास के लिए
जिला एवं पंचायत समिति स्तर तक 'संस्कृति केन्द्र' खोले जाने चाहिये। ऐसे ही
अनेक प्रयास हो सकते हैं जो हमारी संस्कृति को जीवंत और प्रासंगिक बनाये रखने में
सहायक होंगे। केवल संस्कृति का व्यापार और मनोरंजन तो इसका विनाश ही
करेगा।

अंत में हमारा यह अनुरोध है कि आप संस्कृति के रथ पर अफसरशाही और
राजनीतिज्ञों को नहीं चढ़ने दें क्योंकि इन दोनों का मूल स्वभाव येन केन प्रकारेण
यथास्थिति बनाये रखने के लिये सभी प्रकार के हथकण्डे अपनाने का रहता है।
संस्कृति तो अफसरों के लिये बेजान फाइल है या फिर सभा, जलसे एवं अभिवादन
में कलश लिये खड़ी गीत गाती बालिका है। इस देश में नौकरशाही की संस्कृति के
आगे समस्त जनता पानी भरती है अतः संस्कृति को समझने का पहला तरीका इसे
अधिकारियों की कृपा से दूर रखने में ही निहित है। वस्तुतः क्षेत्रीय संस्कृति केन्द्र,
अकादमियां, शोध अध्ययन केन्द्र, राजकीय अनुदान एवं बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के
संस्कृति समारोह तथा प्रोत्साहन-हमारे देश में एक समानान्तर संस्कृति का विकास
कर रहे हैं जिसने आखिरकार जन-संस्कृति को ही दूसरे दर्जे की विचार-वस्तु बना
दिया है।

अपदस्थ राजस्थानी

आजादी के बाद की—यह इतिहास की सबसे बड़ी भूल है कि राजस्थान
को हिन्दी के कट्टरपंथियों ने हिन्दी प्रदेश घोषित किया है तथा यहां की मातृभाषा
समूह 'राजस्थानी' (मारवाड़ी, ढुंढाड़ी, मेवाती, बागड़ी, हाड़ौती) को उसके नैतिक

एवं भाषा वैज्ञानिक महत्व से अपदस्थ कर दिया है। हिन्दी को राष्ट्रीय एकता के नाम पर जब ये लोग कहीं भी किसी राज्य की राजभाषा नहीं बना सके, तो इनका सारा जोर अब राजस्थानी को समाप्त करने में लगा है। मुझे एक हिन्दी लेखक के नाते यह बात बड़े दुःख से कहनी पड़ रही है कि हिन्दी उपनिवेश के विस्तार की यह कोशिश पूर्णतः राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रभुसत्ता स्थापित करने का ही एक व्यापक अंग है।

आजादी के बाद पंडित जवाहरलाल नेहरू और सरदार वल्लभ भाई पटेल के आग्रह पर राजस्थान के राजनैतिक नेतृत्व ने अन्य भाषा-भाषी राज्यों की तरह यह जिद नहीं की कि राजस्थानी को प्रदेश की मुख्य भाषा माना जाए। इस विनम्रता और सहयोग का ही यह परिणाम हुआ कि हिन्दी को आगे चलकर हिन्दी के हिमायतियों ने यहां की जनभाषा घोषित कर दिया और प्राथमिक शिक्षा का माध्यम, लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं का माध्यम हिन्दी भाषा को ही बना दिया। राजनैतिक नेतृत्व की इस भूल को अब इस तरह भुनाया जा रहा है जैसे राजस्थानी तो कोई भाषा ही नहीं है अपितु हिन्दी का ही एक अंग है। सुप्रसिद्ध भाषा विज्ञानी डॉ. ग्रियर्सन एल. पी. टैसीटरी और मैकलिस्टर तथा सुप्रसिद्ध साहित्य शास्त्री रवीन्द्रनाथ टैगोर एवं सुनीति कुमार चटर्जी के इस अभिमत को भी रद्दी की टोकरी में डाल दिया गया कि राजस्थानी एक स्वतंत्र और सम्पूर्ण भाषा है। स्थिति यहां तक आ गई है कि अब विश्वविद्यालयों में राजस्थानी भाषा को हिन्दी के माध्यम से पढ़ाया जाता है। इस सारी रणनीति के पीछे हिन्दी समर्थक उन तत्वों का ही सर्वाधिक हाथ है, जो मूलतः राजस्थान के नहीं हैं तथा भाषा विज्ञान से अपरिचित हैं। मैं यह बात पूरी जिम्मेदारी से कहना चाहता हूँ कि यह सारी समस्या भाषा को नोंक-झोंक का विषय मानकर देखने वालों ने बनाई है तथा आगे चलकर इस अवैज्ञानिक समझ के भयंकर परिणाम हो सकते हैं।

जो लोग भाषा को अपनी जोड़-तोड़ और तथाकथित बहुमत से तय करना चाहते हैं, वे निश्चय ही एक बड़े भुलावे में खुद को डाल रहे हैं। प्रसिद्ध सोवियत लेखक रसूल हमजातोव के शब्दों में किसी भाषा का जन्म और मरण किसी सरकार और शक्ति से नहीं होता, अपितु धर्म की जनता और उसके [illegible] से होता है। मैं भाषा विज्ञान के दृष्टिकोण को यहां नहीं दोहराते हुए यह कहना चाहूंगा कि राजस्थानी को संवैधानिक मान्यता प्राप्त न हो [illegible] किसी [illegible] कारण से नहीं दिया हो पर राजस्थानी भाषा समृद्ध ही [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

महल में बैठे मुट्ठी भर मोन-प्रान्त की भाषा तक मानने को तैयार नहीं है। पंडित नेहरू, श्रीमती इंदिरा गांधी के अनेक भरोसे भी नकारे जा रहे हैं तथा बड़ी सफाई से यह हिन्दी प्रजामण्डल राजस्थानी के भाषा समूह को तरह-तरह के प्रोत्साहन और प्रलोभन देकर आपस में लड़वा रहा है ताकि राजस्थानी भाषा गुट टूट जाए और वे राजस्थान को धीरे-धीरे राजस्थानीविहीन बना दें।

आज प्रांत में राजस्थानी की स्वतंत्र अकादमी है, केन्द्रीय साहित्य अकादमी ने राजस्थानी को स्वतन्त्र भाषा की मान्यता दी है, प्रसारण में भी राजस्थानी को एक माध्यम भाषा माना गया है, तथा तीनों विश्वविद्यालयों में एवं प्राथमिक-माध्यमिक शिक्षा में भी ऐच्छिक विषय के रूप में पढ़ाई जाती है। ये सारी बातें भी राज्य में अपने आप किसी ने राजस्थानी भाषा के महत्व और हक को समझकर नहीं मानी है, अपितु इसके लिए भी राजस्थानियों को वर्षों मांग पत्र देने पड़े हैं। पूर्व मुख्यमंत्री हीरालाल शास्त्री एवं जयनारायण व्यास स्वयं राजस्थानी के कवि थे, माणिक्यलाल वर्मा एवं विजयसिंह पथिक राजस्थानी रचनाओं के माध्यम से ही अंग्रेजों के विरुद्ध जन-संघर्ष करते थे, लेकिन इन लोगों ने कभी-भी यह नहीं सोचा था कि जिस हिन्दी को वे राष्ट्र भाषा का सम्मान दे रहे हैं, उसी के अलमबरदार आगे चल कर यहां की मातृभाषा राजस्थानी को समाप्त करने की कुचेष्टा करेंगे। आजादी के बाद राजस्थानी को जिस तरह अपमानित और प्रताड़ित किया गया उसके दो ज्वलंत उदाहरण मैं आपके सम्मुख रखता हूँ।

भारत सरकार द्वारा पद्मश्री से विभूषित, जोधपुर विश्वविद्यालय से मानद डाक्टरेट से सम्मानित, राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा मनीषी की उपाधि से से समादृत सीताराम लालस, राष्ट्र के उन भाषा शास्त्रियों में हैं जिन्होंने डेढ़ लाख शब्दों का 'राजस्थानी सबद कोस' नौ जिल्दों में तैयार किया है। दुनिया में किसी भी भाषा का शब्दकोष इतना व्यापक और बहु अर्थवाला नहीं है, जिनका भी शब्दकोष की दुनिया से अथवा भाषा विज्ञान से काम पड़ा है वे जानते हैं कि हिन्दी भाषा विभिन्न बोलियों और भाषाओं की समग्रता लेकर-खड़ी बोली से विकसित की गई भाषा है, जबकि राजस्थानी, गुजराती, बंगला, तमिल, कन्नड़, मलयालम, असमिया, मराठी, तेलगु आदि भाषाएँ इस महाद्वीप की हजारों वर्ष पुरानी भाषाएँ हैं तथा इनका अटूट साहित्य भंडार है। सभी जानते हैं कि हिन्दी का प्रारम्भिक आदिकाल राजस्थानी (जिसे डिंगल अथवा प्राचीन राजस्थानी भी कहते हैं) साहित्य ही है। लेकिन जिसके हाथ में डंडा है और भंडा है यहाँ उसी की चलती है।

सीताराम लालस के इस वृहद् शब्दकोष को आम जनता के लिए सहज सुलभ कराने की दृष्टि से राज्य सरकार ने उसके संक्षिप्त प्रकाशन का निर्णय लिया। यह काम प्रारम्भ में नवगठित राजस्थानी भाषा साहित्य एवं संस्कृति अकादमी को

दिया गया। लेकिन शासित सरकारी ने अकादमी की सलाह पर यह काम राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान को दे दिया गया। अब यह संक्षिप्त 'राजस्थानी-हिन्दी संक्षिप्त शब्द कोश' के नाम से दो भागों में प्रकाशनाधीन है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि राजस्थानी और हिन्दी दो स्वतन्त्र भाषाएं हैं तथा यह शब्द कोश, इन दोनों भाषाओं के सेतु का प्रयास है।

'राजस्थानी-हिन्दी संक्षिप्त शब्दकोश' का पहला भाग छपने पर, इसके संपादक सीताराम लालस की भूमिका-वक्तव्य प्रकाशित होने के लिए आई, तो प्रतिष्ठान के निदेशक ने सारे भाषा-वैज्ञानिक अधिकार अपने हाथ में लेते हुए, पद्मश्री सीताराम लालस से कहा कि (1) आपने महाजनी लिपि को राजस्थानी भाषा के लिए प्रचलित एक प्राचीन लिपि के रूप में सिद्ध करने के प्रयत्न किए हैं, (2) आपने अपने प्राक्कथन में मारवाड़ी के शब्द और उच्चारण को पृथक कर, उन्हें देवनागरी एवं अन्य राजस्थान प्रदेशीय बोलियों से हटा लेने के प्रयत्न किए हैं (3) हिन्दी में आपने केवल पर्यायी, ब्रज एवं खड़ी बोली को ही सम्मिलित किया है—आदि आदि....।

राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान के निदेशक सुप्रसिद्ध-शब्दकोष संपादक सीताराम लालस को अपने 5 अप्रैल, 1986 के पत्र में फरमाते हैं—"इस प्रकार तथ्यात्मक विश्लेषण से विभाग इस नतीजे पर पहुँचा है कि इस कोष के साथ आपके प्राक्कथन को मुद्रित करना सर्वहित नहीं होगा। आपके प्राक्कथन की प्रेस कॉपी लौटाई जा रही है" यही नहीं, निदेशक ने जोधपुर घूमने आए डॉ. भोला शंकर व्यास की अनाधिकृत राय भी सीताराम लालस को भेज दी—जिसमें कहा गया है—"राजस्थानी भाषा की कभी-भी हिन्दी से भिन्न लिपि नहीं रही। महाजनी देवनागरी का मात्र भ्रष्ट विकृत रूप है। अतः दकियानूसी पद्धति स्वीकार नहीं की जा सकती।"

""इस सारी बहस में अब कुछ प्रश्न बनते हैं। यथा—(1) राज्य सरकार द्वारा नियुक्त संपादक सीताराम लालस के सम्पूर्ण ज्ञान अनुभव और भाषा-दर्शन को निदेशक द्वारा चुनौती देने के पहले क्या उन्होंने राज्य सरकार से अनुमति ली थी? (2) क्या प्रकाशक को संपादक की भूमिका को बदलने, तोड़ने-मरोड़ने और आरोपीय करने का अधिकार है? (3) क्या निदेशक राजस्थानी को अपने प्रकाशकीय अधिकार से हिन्दी का ही एक अंग मनवाना चाहते हैं? (4) निदेशक ने जोधपुर घूमने आए एक अन्य हिन्दी प्राध्यापक को इस शब्दकोप की भूमिका पर टिप्पणी करने में किससे पूछकर शामिल कर लिया तथा (5) राज्य प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान को यह हक कहां से प्राप्त हो गया कि वह राजस्थानी भाषा के हजारों वर्ष के भाषा-इतिहास और साहित्य-सृजन को महज अपनी हिन्दी-भक्ति के अन्तर्गत ठुकरा दे?

यदि इस तरह प्रकाशक (प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान) को किसी संपादक के प्राक्कथन
पनी मर्जी से लिखवाने दिया गया तो फिर भाषा, साहित्य और संस्कृति की
रता का क्या होगा ? मुझे आज तक एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिला है
मे शब्दकोष अथवा अन्य ग्रन्थो की संपादकीय भूमिका किसी प्रकाशक की मन-
से लिखी गई हो। यह प्रश्न जहा भाषा-विज्ञान के मान्य और नियुक्त संपादक
स्वतंत्रता, तर्क और औचित्य का है, वहाँ अकादमिक महत्व का भी है। हाँ—
प्रकाशक किसी प्राक्कथन से असहमत है तो वह अपनी बात अपने प्रकाशकीय मे
क कह सकता है।

हम विवाद को यहाँ इस संदर्भ मे प्रस्तुत कर रहे हैं ताकि हिन्दी के कट्टर-
यो की दूसरी प्रांतीय भाषाओ के प्रति विद्वेष की मानसिकता को समझा जा
। वस्तुतः यह अपमान पद्मश्री सीताराम लालस का नही अपितु भारत सरकार
ज्य सरकार और भाषा विज्ञान की मान्य परम्पराओ का अपमान है, जिस पर
जस्थानी भाषा के विद्वानो को ध्यान देना चाहिए और राज्य सरकार को सही
र्णय लेने मे मदद करनी चाहिए। मुझे इस बात का डर है कि हिन्दी के यह
यभक्त प्रांतीय भाषाओ को ध्वस्त करने की राजनीति से केवल राष्ट्रभाषा का
अहित कर रहे है।

12–5–1986

आधा अंग लड़ेगा कैसे

आम जनता को इस बात की शिकायत है कि उसके दुख-दर्द मे देश का
लेखक अक्सर मौन क्यो रहता है ? बड़े से बड़े हादसे की चुप्पी जनता को यह सोचने
के लिये विवश करती है कि ये लेखक और साहित्य सब कुछ बकवास है। सरकार ने
अपनी राजनैतिक आवश्यकताओ के लिये मुस्लिम महिला अधिकार संरक्षण विधेयक
आखिरकार पास कर ही दिया और जो इसके विरोधी थे, उनकी किसी ने भी नहीं
सुनी। लोकतन्त्र मे क्योंकि सभी निर्णय बहुमत से होते है अतः इसके विरोध को
अलोकतांत्रिक तो नही कहा जा सकता लेकिन यह बात अवश्य कही जायेगी कि देश
मे एक बार फिर कट्टरपंथी धर्मान्ध शक्तियो की जीत हो गई है। सर्वोच्च न्यायालय
की व्यवस्थाओ के बावजूद राजनैतिक आवश्यकताओ के लिये इस बार मुस्लिम महि-
लाओ को बलि का बकरा बना दिया गया है। हम लेखको के भी यह एक अपमान है

प्रच्छा मालिक हुआ, जिसने इस अमानवीय विधेयक के विरोध में मंत्री पद छोड़ दिया और संसद की बहस में पार्टी व्हिप के बावजूद अपने मन की सच्चाइयों को उजागर किया। मैं इस बात को विश्वास से कह सकता हूं कि राजीव गांधी यदि प्रधानमंत्री अथवा एक राजनैतिक दल के अध्यक्ष नहीं होते तो शायद सबसे पहले इस मुस्लिम महिला अधिकार संरक्षण विधेयक का विरोध करते। वस्तुतः यह हमारी राजनीति की पराजय है तथा सत्ता को येन-केन प्रकारेण अपने पास रखने के लिये खुद को दिया गया एक खूबसूरत धोखा है। गैर सत्ताधारी राजनीतिज्ञों को तो जो कुछ अपने फायदे की बात लगी, उन्होंने कर दी लेकिन मुझे यह सोचकर हैरानी होती है कि मानवतावादी, आध्यात्मवादी, परलोकवादी, अणुवृतवादी, भौतिकवादी और विश्व चेतनावादी उन भारतीय लेखकों को कौनसा सांप सूंघ गया था, जो वे इस महत्वपूर्ण सामाजिक एवं मानवीय मसले पर चुप्पी साधे रहे। जो लेखक प्रतिबद्धता और सम्बद्धता शब्द के प्रयोग पर नैतिकता और चरित्र पर वर्षों से बहस करते चले आ रहे हैं, जो संपादक वर्षों से अपनी साहित्य पत्रिकाओं में किसी मुख्यमंत्री को श्रद्धांजलि, अस्मिता, जीजीविषा, सत्ता, प्रतिष्ठान और उच्चतर कला शिल्प की राग अलाप रहे है, आखिर उन्होंने इस सामाजिक न्याय के प्रश्न पर अपनी आंखें क्यों बंद कर ली ?

यह हो सकता है कि कुछ लेखक सरकारी नौकर होने के डर से बेजुबान हों, यह भी हो सकता है कि कुछ अकादमी एवं राजकीय प्रतिष्ठानों के अध्यक्ष अपनी सरकारी बैसाखी को छोड़ नहीं पा रहे हों, यह भी संभव है कि अनेक लेखक इस प्रश्न को साहित्य का बुनियादी सरोकार ही नही मानते हों तथा यह भी संभव है कि अनेक रचनाकारों को इतनी फुर्सत नहीं हो कि वे समाज के इस धार्मिक एवं राजनैतिक विभाजन को समझें। बहरहाल अब मनुष्य भी जाति और धर्म में बांटा जा रहा है तथा अब यह काम खुले वही लोग कर रहे हैं, जिन्हें हमने अपनी एकता और संविधान बचाने का काम सौंपा था। भाषा के नाम पर तो प्रांत और जातियां हमारे यहां पहले से ही विषबेल की तरह फैली हुयी हैं, लेकिन अब यह जहर पुरुष और स्त्री के नाम पर भी फैलाया जा रहा है। यह वैसी ही स्थिति है कि जैसे कोई बलात्कार की सताई महिला पुलिस थाने में जाये तो पूरा पुलिस थाना उसके साथ पहले बलात्कार करे और फिर रपट लिखे। यह वैसी ही हालत है कि कोई सती-साध्वी परलोक सुधारने के लिये साधु संगत में जाये तो सबसे पहले महात्माजी ही उस पतिव्रता के साथ गंदी हरकतें प्रारंभ कर दें। जो भी हो, हमारी चुप्पी हर स्थितियों में हमारी नपुंसकता को ही प्रमाणित करती है। कबीर, नानक, मीरा, रैदास, तिरुवल्लुवर, नामदेव जैसे संतो ने शायद ही कही ऐसी कायरता दिखायी हो। काजी नजरुल इस्लाम, बैंजामिन मोलाइसे, पाब्लो नरूदा, ज्यांपालसार्ज, फैज अहमद फैज, गोर्की, चेखव, टालस्टाय, अरस्तू, प्लेटो, सुकरात, प्रेमचन्द जैसे लेखकों ने शायद ही सामाजिक न्याय के प्रसंगों पर इस तरह उदासीनता और कायरता दिखायी है।

इस घटना से यह सिद्ध हो गया है कि 21वी शताब्दी में जाने वाला लेखक वर्ग उस धृतराष्ट्र की सन्तान की तरह है, जो शब्दों की द्रोपदी से खेल रहा है और अपनी सारी शक्ति सुबह से शाम तक गैर मामूली समस्याओं पर खर्च कर रहा है। पूरे देश मे मुस्लिम महिला अधिकार सरक्षण विधेयक का विरोध केवल प्रगतिशील एव जनवादी लेखको ने अपने नाम के साथ किया, जुलूस निकाले, सभायें की, प्रस्ताव पारित किये तथा अनशन धरने पर भी बैठे। इस सारी कार्यवाही से लेखकों का यह विभाजन भी स्पष्ट हो गया है कि कौन प्रतिगामी है और कौन प्रगतिशील है। अरे, हम लेखको मे तो वे प्रबन्धकार ही अच्छे निकले जो पूंजीपतियो के दुमछल्ले होने के बावजूद इस विधेयक का सीना तानकर विरोध करते रहे। मैं यह नही कह सकता कि इस देश के सभी लेखक बेईमान हैं अथवा सभी साहित्यकार नासमझ हैं। लेकिन मुझे यह कहने में तनिक भी सकोच नही कि इस देश का अधिकाश लेखक, बुद्धिजीवी, सुविधाभोगी, कायर और 12वी शताब्दी की सामन्ती मानसिकता मे जीता है।

पजाब मे धर्मयुद्ध, खालिस्तान निर्माण और आतकवादी गतिविधियों के विरुद्ध जो एकता और साहसिकता यहा के लेखको ने बताई वह हिम्मत उसने महिलाओ को आदर और समानता देने में क्यो नही दिखायी ? क्या इसका कारण यह है कि पजाब के प्रसंग पर सरकारी नीति उनके अनुकूल थी और मुस्लिम महिला अधिकार सरक्षण विधेयक पर सरकार की नीति लेखको के प्रतिकूल थी। यदि निर्णय का आधार सरकारी दृष्टिकोण ही मान लिया जाय तो फिर यह बात भी माननी ही पड़ेगी कि हमारे देश मे लेखक की कलम को सरकार की मेहरबानी, अनुदान और तनखा चलाती है।

जो लेखक किसी छोटी-सी अकादमी मे मामूली-सी सहायता नही मिलने पर रोता-चिल्लाता है, जो लेखक मत्री को साहित्यिक समारोह में बुलाने के विरोध में रचनायें लिख देता है, जो लेखक किसी सत्ताधारी से पुरस्कार लेना अपने सृजन का अपमान समझता है तथा जो लेखक अपने को समाज के आगे आगे चलने वाली मशाल समझता है, वह लेखक भला समाज में रात दिन घट रहे नरसंहार पर चुप क्यो रहता है, इस बात का उत्तर यदि आज का लेखक नही तलाश पाया तो फिर यह बात स्वतः ही साबित हो जायेगी कि आज का लेखक और उसका लेखन, भारतीय और समस्त सवेदनाओ के सदर्भ मे अप्रासंगिक एवं नकारा हो गया है।

मुझे याद है आपातकाल के दौरान भी लेखको की यही दुर्गति हुयी थी, मुझे याद है लेखको की यही कमजोरी आसाम, कश्मीर, उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र के साम्प्रदायिक दगों के समय सामने आयी थी।

अकेला साबित हुआ, जिसने इस अमानवीय विधेयक के विरोध में मंत्री पद छोड़ दिया और संसद की बहस में पार्टी व्हिप के बावजूद अपने मन की सच्चाइयों को उजागर किया। मैं इस बात को विश्वास से कह सकता हूं कि राजीव गांधी यदि प्रधानमंत्री अथवा एक राजनैतिक दल के अध्यक्ष नहीं होते तो शायद सबसे पहले इस मुस्लिम महिला अधिकार संरक्षण विधेयक का विरोध करते। वस्तुतः यह हमारी राजनीति की पराजय है तथा सत्ता को येन-केन प्रकारेण अपने पास रखने के लिये खुद को दिया गया एक खूबसूरत धोखा है। खैर सत्ताधारी राजनीतिज्ञों को तो जो कुछ अपने फायदे की बात लगी, उन्होंने कर दी लेकिन मुझे यह सोचकर हैरानी होती है कि मानवतावादी, आध्यात्मवादी, परलोकवादी, अणुव्रतवादी, भौतिकवादी और विश्व चेतनावादी उन भारतीय लेखकों को कौनसा सांप सूंघ गया था, जो वे इस महत्वपूर्ण सामाजिक एवं मानवीय मसले पर चुप्पी साधे रहे। जो लेखक प्रतिबद्धता और सम्बद्धता शब्द के प्रयोग पर नैतिकता और चरित्र पर वर्षों से बहस करते चले आ रहे हैं, जो संपादक वर्षों से अपनी साहित्य पत्रिकाओं में किसी मुख्यमंत्री को श्रद्धांजलि, अस्मिता, जीजीविषा, सत्ता, प्रतिष्ठान और उच्चतर कला शिल्प की राग अलाप रहे है, आखिर उन्होंने इस सामाजिक न्याय के प्रश्न पर अपनी आंखें क्यों बंद कर ली ?

यह हो सकता है कि कुछ लेखक सरकारी नौकर होने के डर से बेजुबान हों, यह भी हो सकता है कि कुछ अकादमी एवं राजकीय प्रतिष्ठानो के अध्यक्ष अपनी सरकारी बैसाखी को छोड़ नहीं पा रहे हों, यह भी संभव है कि अनेक लेखक इस प्रश्न को साहित्य का बुनियादी सरोकार ही नही मानते हों तथा यह भी संभव है कि अनेक रचनाकारों को इतनी फुर्सत नहीं हो कि वे समाज के इस धार्मिक एवं राजनैतिक विभाजन को समझें। बहरहाल अब मनुष्य भी जाति और धर्म में बांटा जा रहा है तथा अब यह काम खुले वही लोग कर रहे हैं, जिन्हें हमने अपनी एकता और संविधान बचाने का काम सौंपा था। भाषा के नाम पर तो प्रांत और जातियां हमारे यहां पहले से ही विषबेल की तरह फैली हुयी है, लेकिन अब यह जहर पुरुष और स्त्री के नाम पर भी फैलाया जा रहा है। यह वैसी ही स्थिति है कि जैसे कोई बलात्कार की सताई महिला पुलिस थाने में जाये तो पूरा पुलिस थाना उसके साथ पहले बलात्कार करे और फिर रपट लिखे। यह वैसी ही हालत है कि कोई सती-साध्वी परलोक सुधारने के लिये साधु संगत में जाये तो सबसे पहले महात्माजी ही उस पतिव्रता के साथ गंदी हरकतें प्रारंभ कर दें। जो भी हो, हमारी चुप्पी हर स्थितियों में हमारी नपुंसकता को ही प्रमाणित करती है। कबीर, नानक, मीरा, रैदास, तिरुवल्लुवर, नामदेव जैसे संतो ने शायद ही कहीं ऐसी कायरता दिखायी हो। काजी नजरुल इस्लाम, बैंजामिन मोलाइसे, पाब्लो नरुदा, ज्यांपालसार्ज, फैज अहमद फैज, गोर्की, चेखव, टालस्टाय, अरस्तू, प्लेटो, सुकरात, प्रेमचन्द जैसे लेखकों ने शायद ही सामाजिक न्याय के प्रसंगों पर इस तरह [illegible] और [illegible] दिखायी है।

इस घटना से यह सिद्ध हो गया है कि 21वीं शताब्दी में जाने वाला लेखक
ं उस धृतराष्ट्र की सन्तान की तरह है, जो शब्दों की द्रोपदी से खेल रहा है
र अपनी सारी शक्ति सुबह से शाम तक गैर मामूली समस्याओं पर खर्च कर रहा
। पूरे देश में मुस्लिम महिला अधिकार संरक्षण विधेयक का विरोध केवल प्रगति-
ल एवं जनवादी लेखकों ने अपने नाम के साथ किया, जुलूस निकाले, सभायें कीं,
स्ताव पारित किये तथा अनशन धरने पर भी बैठे। इस सारी कार्यवाही से लेखकों
ा यह विभाजन भी स्पष्ट हो गया है कि कौन प्रतिगामी है और कौन प्रगतिशील
। अरे, इन लेखकों से तो वे धर्मधारी ही अच्छे निकले जो पूंजीपतियों के दुमछल्ले
ने के बावजूद इस विधेयक का सीना तानकर विरोध करते रहे। मैं यह नहीं कह
कता कि इस देश के सभी लेखक बेईमान हैं अथवा सभी साहित्यकार नासमझ हैं।
ेकिन मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि इस देश का अधिकांश लेखक,
ुद्धिजीवी, सुविधाभोगी, कायर और 12वीं शताब्दी की सामन्ती मानसिकता में
ीता है।

पंजाब में धर्मयुद्ध, खालिस्तान निर्माण और आतंकवादी गतिविधियों के विरुद्ध
जो एकता और साहसिकता यहां के लेखकों ने बताई वह हिम्मत उसने महिलाओं को
आदर और समानता देने में क्यों नहीं दिखायी? क्या इसका कारण यह है कि
पंजाब के प्रसंग पर सरकारी नीति उनके अनुकूल थी और मुस्लिम महिला अधिकार
संरक्षण विधेयक पर सरकार की नीति लेखकों के प्रतिकूल थी। यदि निर्णय का
आधार सरकारी दृष्टिकोण ही मान लिया जाय तो फिर यह बात भी माननी ही
पड़ेगी कि हमारे देश में लेखक की कलम को सरकार की मेहरबानी, अनुदान और
तनख्वा चलाती है।

जो लेखक किसी छोटी-सी अकादमी में मामूली-सी सहायता नहीं मिलने
पर रोता-चिल्लाता है, जो लेखक मंत्री को साहित्यिक समारोह में बुलाने के विरोध में
रचनायें लिख देता है, जो लेखक किसी सत्ताधारी से पुरस्कार लेना अपने सृजन का
अपमान समझता है तथा जो लेखक अपने को समाज के आगे आगे चलने वाली
मशाल समझता है, वह लेखक भला समाज में रात दिन घट रहे नरसंहार पर चुप
क्यों रहता है, इस बात का उत्तर यदि आज का लेखक नहीं तलाश पाया तो फिर
यह बात स्वतः ही साबित हो जायेगी कि आज का लेखक और उसका लेखन,
भारतीय और समस्त संवेदनाओं के संदर्भ में अप्रासंगिक एवं नकारा हो गया है।

मुझे याद है आपातकाल के दौरान भी लेखकों की यही दुर्गति हुयी थी, मुझे
याद है लेखकों की यही कमजोरी आसाम, कश्मीर, उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र के
साम्प्रदायिक दंगों के समय सामने आयी थी।

जीवन के प्रति संघर्ष की प्रेरणा ही उसे मनुष्य और मानवता से जोड़ती है। मुझे तो रह रहकर लगता है कि यदि हमारे बीच कोई प्रेमचन्द, निराला, रामधारी सिंह दिनकर, बालकृष्ण शर्मा नवीन, सुब्रमण्यम भारती, वल्लतोल, रवीन्द्र नाथ, बंकिम चन्द्र, मैथलीशरण गुप्त, गणेश लाल व्यास, 'उस्ताद', भारतेन्दु होता तो हम मनुष्य की स्वाधीनता की इस लड़ाई को दो कदम आगे बढ़ा पाते। शरतचन्द्र यदि आज होते तो नारी को जातियों में बांटकर उसका शोषण जारी रखने का विरोध करते। काश! आज हमारे पास कोई मैक्सिम गोर्की होता तो वह हमें बताता कि नारी कोई राजनैतिक प्रभुसत्ता को बनाये रखने वाली उपभोक्ता सामग्री नहीं है अपितु मानवीय क्रान्ति का दर्शन है। साहित्य और समाज के प्रसंग में शताब्दियों से चक्की के दो पाटों के दानों की तरह पिसती हुयी नारी आज एक दांव हार चुकी है लेकिन कल वह एक सम्पूर्ण युद्ध जीतेगी, ऐसा मेरा पक्का विश्वास है।

मेरे मन में इस बात पर गहरा दुःख है कि हम औरों को क्या दोष दें, खुद कलम के धनी और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के पक्षधर साहित्यकार ही अपने को विभाजित और लाचार पा रहे हैं। अगर शोषण और जुल्म के विरुद्ध कोई लेखक नहीं बोलेगा तो फिर कौन बोलेगा? हमें अपनी बात तो कहनी चाहिये भले ही आज उसे कोई सुने या नहीं सुने। देश के इतिहास में ऐसे प्रसंगों पर लेखक की चुप्पी आने वाली पीढ़ी के लिये शर्म से बढ़कर कुछ भी नहीं होगी। अतः मेरे साथियो उठो। जिसके पास सृजन की जो भी क्षमता है उस मनुष्य के द्वारा फिर जा रहे मनुष्य के शोषण के विरुद्ध बारूद बना दें। क्योंकि भारत का भविष्य अथवा मनुष्य का भविष्य कोई एक व्यक्ति, दल और सरकार नहीं बनाती। इसका निर्माण तो मनुष्य के संघर्ष से और कलम की मानसिक सच्चाई से होता है। जो लेखक चुनौतियों के सामने चुप है, दलित है, भयभीत है, गोटेबाजी कर रहा है वह और कुछ भले ही हो पर एक लेखक कभी नहीं हो सकता।

कविवर उत्साद के शब्दों में —

क्रान्ति नाम है आग चाहिये मिट जाने की ताकत चाहिये मझधार में पैठ, हटकर जीवन का रस लेना कैसे?

इस मशाल को आंधी से कह दे बुझना नहीं और का दम दे ... अब दावेदार होगा दावा अब लड़ेगा कैसे?

8-5-1986

मेरी जूती—मेरा सिर

मैं स्वतन्त्र भारत का आर्थिक एवं सामाजिक गुलाम हूं। मैंने जब 44 वर्ष पूर्व इस दुनिया में प्रवेश किया था उस समय एक नारा सभी तरफ सुनाई पड़ता था—दुनिया के मजदूरो एक हो, इन्कलाब जिन्दावाद, धन और धरती बंटके रहेगी। या फिर अधिक पढ़े-लिखे लोग कहते थे—मजदूर के पास खोने के लिए बेड़ियां हैं किन्तु पाने के लिये जहान है। ये सभी नारे मुझे आज भी यदा-कदा सुनाई देते हैं, लेकिन अब यह नारे अनेक झंडो और अनेक डंडों की राजनीति से बीमार हुये मालूम पड़ते हैं। यह सारा बदलाव, अन्तर्विरोध, भटकाव और विघटन बताता है कि हम संघर्ष की जगह समझौते, सामूहिक नारों की जगह व्यक्तिवाद तथा नेतृत्ववाद और सामूहिक ताकत की जगह फूटपरस्त रणनीति के शिकार हो चुके है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक दिवस के शताब्दी वर्ष मे इन सारी बातो पर गहराई से विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि विज्ञान के तथा औद्योगिक विकास के बढते प्रभावों से जहां दुनिया मे दूरियां घटी है वहा मजदूर और कर्मचारी वर्ग की दूरियाँ बढ़ी है। पहले मजदूर-श्रमिक एकता के गीत सुनकर दिल जोश से भर उठता था, लेकिन आज की दुनिया मे इन गीतो, कहानियों और दास्तानों को हमारे अनेक नादान साथी महज नारेबाजी कहकर झुठला देते हैं। यह पूरी समझ अब इस तरह विकलाग हो गई है कि मजदूर और कर्मचारी का सारा संघर्ष एक हारी हुई लड़ाई को जीतने का टुकडो में बटे हुए प्रयास जैसा लगता है। मै यह शब्दावली किसी निराशा से नही अपितु संघर्षपूर्ण भविष्य की आस्था से इस्तेमाल कर रहा हूं, क्योंकि मेरा विश्वास है कि आखिरकार इस अंधेरी रात के बाद एक दिन दुनिया में सर्वहारा का राज्य होगा।

दुनिया के समाजवादी देश इस बात का उदाहरण है कि मानो नही दुनिया को बदलो। लेकिन तीसरी दुनिया के गरीब देशों मे मजदूर और किसान आन्दोलन धीरे-धीरे टूट रहा है। 'कभी खुद ने, कभी हालात ने दिल तोड़ दिया' वाली स्थिति है। भारत मे विशेषकर यह दारुणदशा देखी नहीं जाती। विकल्प की तलाश में इतनी कमजोर पतवारें हैं कि शायद ही हम उस नाव मे बैठकर अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद की नदी के उफान को पार कर सकें।

जब मैं पढता था तब एक सवाल इतिहास के पेपर मे बार-बार पूछा जाता था कि भारत मे मुगल साम्राज्य के पतन के कारण बतायें। मैं इसी सवाल को आज इन तरह जानना चाहता हूं कि भारत में मजदूर आदोलन के पतन के कारण बतायें। हो सकता है मुगल और मजदूर की समानता आपको उचित और सही नहीं लगे, लेकिन यहाँ मेरा आशय सिर्फ इतना सा है कि हमें भारत में मजदूर एवं श्रमिक

आन्दोलन की असफलता के कारणों को उसके ऐतिहासिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्थितियों के संदर्भ में समझना चाहिये।

भारत का मजदूर आन्दोलन मूलतः सोवियत क्रांति से प्रभावित होकर देश में अंग्रेजों की दासता के विरुद्ध जन्मा आन्दोलन है। इस आन्दोलन के नेता मूलतः आजादी की लड़ाई के सेनानी थे। लेकिन इस आन्दोलन का जहाँ प्रथम लक्ष्य अंग्रेजों को अपदस्थ करना था वहाँ इसका दूसरा चरण अपनी ही चुनी हुई सरकार से जीवन के मूल अधिकार प्राप्त करना था। अतः अपनों से ही अपनी ही जमीन पर लड़ाई लड़ना एक टेढ़ी खीर साबित हुआ, जो लोग आजादी के पहले तक मजदूरों और किसानों से अंग्रेजों के विरुद्ध भारत छोड़ो के नारे लगवाकर खुश होते थे वे सारे लोग आजादी प्राप्त करने के बाद मजदूरों को अचानक शांति और उत्पादन भंग करने वाली ताकत मानने लग गये। यहाँ तक की जिस कानून के डंडे से अंग्रेज भारतीय मजदूरों का दमन करते थे उसी कानून के डंडे से हमने अपनी-अपनी राजनीतिक सुविधा एवं सत्ता के लिये देश के मजदूर संघर्षों को भी दबाया। अतः मेरी नजर में भारत में मजदूर आन्दोलन की असफलता के जो अनेक कारण बनते हैं उनमें से कुछेक इस प्रकार है—

आजादी के बाद जो राजनीतिक चेतना आई तथा सत्ता शासन का बटवारा हुआ उसने आजादी के दीवानों को बहुत जल्दी अलग-अलग व्यक्तियों, दलों एवं संगठनों में बांट दिया। आन्तरिक सत्ता की लड़ाई से जहां देश में मूल उद्देश्य येन-केन-प्रकारेण सत्ता को हथियाने का बन गया वहां इसके कारण एक विचारधारा-विहीन समाज रचना का दुष्चक्र भी प्रारम्भ हुआ।

मजदूर, श्रमिक एवं कर्मचारी (मध्यम वर्ग) की लड़ाई को बल देने वाले वामपंथी दल विभाजित हो गये तथा इन सबका आचरण भी कुल मिलाकर आर्थिक विकास तक ही सीमित हो गया। देश की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक प्रणाली से मजदूर आन्दोलन अलग-थलग पड़ गया तथा समुद्र में टापू की तरह यह संघर्ष बांधकर सीमित कर दिया गया। भारत में मजदूर संघर्ष का सबसे बड़ा नुकसान यहाँ के वामपंथी दलों की असफलता एवं फूट में ही देखा जा सकता है।

इधर वामपंथियों की आपसी लड़ाई और उधर सत्ता एवं दक्षिणपंथी दलों की हाथ की सफाई ने मजदूरों में भी अपने छोटे-छोटे लाभ पहुँचाने वाले भंडे गाड दिये। किसानों को बिजली, पानी और खाद के अनुदान से बहला फुसला दिया गया तो मजदूरों को अधिनायकवादी कानूनों के अन्तर्गत मालिक (पूंजीपति) से तनखा, वर्दी, भत्ते, तरक्की और बोनस की लड़ाई में उलझा दिया गया। नतीजा यह निकला की मजदूर और किसान ये छोटी-छोटी सुविधायें पाकर संघर्ष से कतराने

ताकि उनके सामने महंगाई भत्तो का प्रदर्शन करके रोज पुराने पड़ने वाले अखबारों की सुर्खियाँ बन सके। जो मजदूर कल तक उद्योगपति के सीने पर चढ़ जाता था आज अपने नेताओं से कहता है—साथी! अब लड़ाई बंद करो, हालात पहले से बहुत बेहतर है। क्योंकि मजदूर कर्मचारी सुबह से शाम तक की सामाजिक एवं सांस्कृतिक लड़ाई में इस तरह चौकड़ी-चूक हो गया है कि उसे बच्चों को दिन भर गिनने के अलावा कोई काम ही नहीं आता। 'दोस्तों' ने ऐसी स्थिति बना दी है कि बिना मांगे सब कुछ प्राप्त कर लिया जाये।

हमारे यहाँ सर्वहारा वर्ग में भी अधिकांश वर्ग असंगठित हैं, जो संगठित हैं वे सुविधाओं में विभाजित हैं तथा जो असंगठित हैं वे अज्ञान और गरीबी से विभाजित हैं। मजदूरों में भी अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक जैसी धारणायें घर कर गई है तथा सारा असंगठित वर्ग आज के दिन ठेकेदारों की मुट्ठी में बंद है। सरकार भी खुश है और ठेकेदार भी खुश है। करोड़ों सेनीहीन, भूमिहीन मजदूर बंधुआ जीवन बिताते हुए मर जाते हैं, लेकिन बीरबल की खिचड़ी की तरह आजादी के 38 वर्ष बाद भी इस गरीब की हांडी तक राजनीतिक एवं सामूहिक संघर्ष की आग हम पहुँचा नहीं पाये हैं।

अनेक कारणों में एक कारण यह भी देखने में आता है कि हमने अपने संघर्ष के दस्तों में उन बिकाऊ, अवसरपरस्त और व्यक्तिवाद से पीड़ित लोगों को अपना नेता मान लिया है, जो देश की नौकरशाही और यथास्थिति बनाये रखने वाली शासन प्रणाली को अच्छे लगते हैं। ये सुविधाभोगी श्रमिक नेता अपने अस्तित्व के लिये किसी न किसी दल के पिछलग्गू बन रहते हैं तथा इनका सारा जोर इस बात पर रहता है कि करोड़ों श्रमिक एवं कर्मचारियों को सामाजिक-आर्थिक सत्ता के परिवर्तन का हथियार मत बनने दो तथा उन्हें महंगाई भत्ते की तात्कालिक सुविधाओं में ही उलझाये रखो। यही कारण है कि मजदूरों में भी छोटे-बड़े उद्योगों की तरह छोटे-बड़े मजदूरों जैसे दो वर्ग बन गये हैं। इन दोनों की चेतना अलग-अलग है, विश्वास अलग-अलग है तथा देश में लोकतन्त्र एवं समाजवाद लाने के इनके इरादे भी अलग-अलग हैं।

ऐसी ही बहुत सारी बातें हैं जिन पर आज विचार किया जाना चाहिये। आज देश का मजदूर-कर्मचारी आन्दोलन एक प्रकार का कायापलट (डायलेसिस) चाहता है। मजदूर अपने नेताओं के संघर्षहीन दोगलेपन से परेशान है तो नेता अपनी व्यक्तिगत अहम, अक्षमता और राजनीतिक दृष्टिहीनता से लाचार है। इन दोनों की असहाय स्थिति का लाभ तब तक सत्ता व्यवस्था को मिलता है और मिलता रहेगा, जब तक हम अनेक भंडे, डंडे और नारों की तलाश में भटकते रहेंगे। उत्पादन के साधनों का समान बटवारा, प्रबन्ध में भागीदारी, श्रम का राष्ट्रीयकरण, सार्वजनिक

उद्योगों का विकास जैसी ग्राधारभूत बातें हम से तब तक दूर रहेंगी, जब तक कि हम ग्रपनी ग्रसफलता के कारणों को नही समझेंगे। देश में निजी उद्योगों, निजी ग्रौद्योगिक घरानो ग्रौर निजी क्षेत्र का पूंजी निवेश बढ़ेगा तब तक हमारा समानता का संवैधानिक सपना एक मृग-मरीचिका ही बना रहेगा।

सरकार मजदूरो से उनके कर्तव्य की मांग करती है तो मजदूर, सरकार से ग्रपने संवैधानिक ग्रधिकार की मांग करता है। नदी के दो किनारों पर सरकार ग्रौर मजदूर संगठन डूबते हुये मजदूर को बचाने के लिये चीख-चिल्ला रहे हैं ग्रौर बेचारा मजदूर इन दोनो की गवाही में डूबता जा रहा है।

वस्तुतः यह सारा चक्र देश की सामाजिक-ग्रार्थिक एवं राजनीतिक प्रणाली से जुड़ा हुग्रा है। धर्म, सम्प्रदाय, जाति, क्षेत्रीयता ग्रौर व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाग्रो से खण्डित हमारा देश कभी ग्रलगाववाद से लड़ता है, कभी विदेशी हमले से, कभी ग्राणविक युद्ध से, कभी धार्मिक पागलपन से तो कभी ग्रकाल, सूखे ग्रौर भ्रष्टाचार से लडता रहता है। लेकिन इस सारी विषमता मे मजदूर ग्रौर कर्मचारी ग्राज किससे लड़ रहा है ? वह संगठित क्यों नही हो पाता ? वह भ्रष्ट मजदूर नेताग्रों को समय के कूड़ादान में क्यों नही फैंक पाता जैसी बातों पर ग्रब हमे मिलकर सोचना चाहिये। समय बहुत बीत चुका है ग्रौर देश का मजदूर ग्रपनी पहली लड़ाई हार चुका है। ग्रतः उसे लेनिन के शब्दों मे—दो कदम ग्रागे बढ़ाते हुये ग्रौर एक कदम पीछे हटाते हुए भी संघ शक्ति का पुनर्जागरण करना चाहिये। यह विचार पत्र तो एक बहस का प्रारम्भ है, जिसे हमे ग्रपनी-ग्रपनी समझ से मजबूत बनाना पड़ेगा।

1-5-1986

चक्कियों की राजनीति

राजस्थान में धीरे-धीरे लेखकों ग्रौर प्रकाशकों का विस्तार होता जा रहा है। वैसे कोई लेखकगणना, पुस्तकगणना ग्रौर प्रकाशकगणना तो किसी ने भी नही की है, लेकिन एक मोटा ग्रन्दाज बताता है कि राजस्थान में जितने लेखक हैं उतने ही प्रकाशक हैं तथा जितने प्रकाशक हैं उतने ही विक्रेता हैं। इस पूरे त्रिवेणी संगम के बाद भी लेखकों को पाठक तक पहुंचने मे सदियाँ लग जाती हैं। इसके कई कारण हैं। पेट काटकर पुस्तक छपाने वाला लेखक, पुस्तकें ग्रात्ममुग्ध होकर बाँटता ग्रधिक है तथा यदि कोई प्रकाशक पुस्तक छापता है तो वह समीक्षकों को उसे बताने में

इसलिए कतराता है कि कहीं लिहाज-शर्म में यह पुस्तक देनी न पड़ जाये। ऐसे कई लेखक हैं जो अभी भी जब कभी मिलते हैं तो अपनी 1975-80 की प्रकाशित पुस्तक बड़ी ललक से समीक्षक को थमा देते हैं और कहते हैं—क्या करें दोस्त, पुस्तकें बेचना तो हमें आता नहीं लेकिन बाँटना हमें आता है। कई ऐसे बेतकल्लुफ साथी भी मिलते हैं जो यह भी कहते है—यार! मुझे पुस्तक बाँटना भी नहीं आता। पहले संस्करण की 500-700 प्रतियाँ अभी भी घर में पड़ी हैं। तुम्हीं बताओ उन्हें कहाँ खपाएं? अलबत्ता कुछ प्रकाशक आज इस स्थिति में आ गये हैं, जिनके नाम से और वे लेखक के नाम से, अपनी पुस्तक का पहला संस्करण साल भर में निकाल देते हैं। लेकिन कोई लेखक या प्रकाशक कितना भी बड़ा हो उसे हर पुस्तक पर पुस्तकालय में और खरीद में, कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में कमीशन देना ही पड़ता है। कमीशन लेना और देना अब एक शिष्टाचार है तथा यह शिष्टाचार लेखकों को पुस्तकालय में कैद तो कर देता है लेकिन उसे आम पाठक तक नहीं पहुंचा पाता। यह हकीकत है कि गगनलोकी लेखक को अखबार, रेडियो, दूरदर्शन आदि पर देख-सुनकर लोग अधिक जानते हैं तथा उनकी पुस्तकों से उनका कभी कोई परिचय नहीं होता। यह भी सत्य ही है कि पाठक अपनी रोजी-रोटी और अस्तित्व की लड़ाई में फटी चादर से इस तरह गुत्थम-गुत्था है कि उसे पुस्तक खरीदकर पढ़ने का, समीक्षाएँ पढ़कर देखने का तथा पुस्तकालय में जाकर पढ़ने का समय और पैसा ही नहीं है। पुस्तकालयों का सर्वेक्षण बताता है कि उसे रेत और दीमकें अधिक पढ़ती हैं तथा पाठक के हाथ वर्षों में नसीब नहीं होते। यह एक दिलचस्प स्थिति है जिसमें 'लेखक' जीता है तथा आत्म-प्रचार की दुदंभि बजाता है। यह तो गनीमत है कि अब विभिन्न राजकीय साहित्य अकादमियाँ लेखकों को पुस्तक प्रकाशन पर तथा पाडुंलिपि प्रकाशन पर आर्थिक सहायता देने लगी हैं, वरना हालत यह है कि लेखक की पुस्तक तक छापना भारी पड़ता है। इसमें भी प्रकाशक लोग अक्सर अकादमी सहायता के पैसे लेखक से पुस्तक छापने की ऐवज में पहले ही वसूल कर लेते हैं क्योंकि लेखक में पैसों से पहले अपनी पुस्तक का प्रकाशन देखने की महत्त्वाकांक्षा बनी रहती है। यहाँ तक होता है कि पुस्तकों की केन्द्रीय खरीद में लेखक से रायल्टी भुगतान का प्रमाण-पत्र देने पर ही पुस्तक खरीद का भुगतान करने की व्यवस्था है। लेकिन यहाँ भी लेखक अपने प्रकाशक को अग्रिम रूप में सम्पूर्ण रायल्टी प्राप्त होने का प्रमाण-पत्र दस्तखत करके दे देता है। हर हालत में लेखक ही पिसता है क्योंकि वह पुस्तक छाप सकता है अथवा छपवा तो सकता है लेकिन उसे बेच नहीं सकता। गाँवों में तथा दूर-दराज के इलाकों में बैठे नये लेखक भली-बुरी पुस्तक/पत्रिका/पैम्फलेट तो छपवा भी लेते हैं पर उन्हें साहित्य की जैसी-कैसी भी मुख्य-धारा है उसमें कोई स्थान और पहचान अनेक वर्षों तक नसीब नहीं होती। यहाँ भी लेखक को किसी का दामन थामना पड़ता है, भले ही वह अकादमी हो, प्रकाशक हो, विक्रेता हो, या फिर कोई साहित्यिक

की हिफाजत कर सके, ऐसी स्थितियों में इन चक्रियों की साजिश के कारण—लाचार बना दिया गया है। लेखक इस भूल-भुलैया से कैसे बाहर निकले, हमें इस राजनीति पर सामूहिकता की वैचारिक समझ के साथ मिलकर सोचना चाहिए। जब इन चक्रियों में एकता हो सकती है तो फिर त्रिकालदर्शी लेखक में यह समझ और साहस क्यों नहीं आ सकता? इस चूहातंत्र में चक्रियों की पारस्परिक राजनीति को लेखक जब तक नहीं समझेगा, वह खुले मैदान में व्यवस्था-विरोधी, समाज-विरोधी, धर्म-विरोधी, राष्ट्र-विरोधी कहकर मार दिया जायेगा। यदि उसकी जान बख्श भी दी गई तो उसे अपाहिज और अपंग बनाकर दरगुजर कर दिया जायेगा, ताकि चक्रियों की राजनीति जारी रहे और मनुष्य की बारीक पिसाई चलती रहे।

लेखक-कवि स्वभाव के भोले होते हैं (चक्रियों की भाषा में मूर्ख) तथा उनकी इस भावुकता और संवेदनशीलता में व्यवस्था के पाट शताब्दियों तक पिसाई करने के बाद कोमल बने रहते हैं, चूहों का खून इनके पाटों को सात्विक बनाये रखता है। यह मेरा प्यारा लेखक कवि सम्मेलन में दारू पीकर आयोजक से कविता-पाठ की रकम को लेकर झगड़ने में ही मग्न है। पशु मेले में कवि सम्मेलन हो, सेठानियों के जापे पर उत्सव हो, नेताजी का जन्म-दिन हो, अपने अफसर की सालगिरह हो यह कवि-सम्मेलनिया कवि सारी जिन्दगी गाने में ही डूबा रहता है तथा पाट सिक्के की तरह साहित्य में भी चलता रहता है। व्यवस्था की चक्की ऐसे दानों को अपने दरबार में, पार्टी प्रकोष्ठ में, अकादमियों में, संचार माध्यमों में डालकर पीसती रहती है और खाती रहती है। इन कवियों को मुगालता तो यह है कि वे ही इस सूर्य रथ को चला रहे हैं, लेकिन—दिल बहलाने को गालिब ख्याल अच्छा है वरना हम जानते हैं कि जन्नत की हकीकत क्या है? हमारे एक कवि साथी हैं जिन्हें 20 वर्ष पहले आराम से अकादमी का 2–3 हजार रुपये का मीरा पुरस्कार मिल गया था। वे आज तक अपने लैटर पैड पर, समाचार सूचनाओं में तथा परिचय घोषणाओं में यही कहते रहते हैं—मीरा पुरस्कार विजेता........ सम्मानित......। वे चिट्ठी पर अपने ही निजी सचिव की हैसियत से हस्ताक्षर करके स्वनामधन्य बन जाते हैं तथा लैटरपैड पर उन भली-बुरी पत्र-पत्रिकाओं, संस्थाओं और संस्थानों को छाँट लेते हैं जहाँ-जहाँ उनका जलवानुमाया होता है। अब एक दूसरा उदाहरण पेश करूँ। हमारे एक कवि मित्र हैं जो किसी बड़े नेता के [illegible] रह चुके हैं। बरसों तक [illegible] में, सम्मेलनों में प्यार भरे 4 गीत [illegible] तथा उन्हें ऐसा [illegible] हुआ कि वे ही अब साहित्य को आगे बढ़ा सकते हैं। [illegible] से [illegible] और साहित्यिक संस्था के स्वयंभू नेता [illegible]। उन्होंने [illegible] ही [illegible] के साथ अपने सभी काव्य-गुरुओं को [illegible], [illegible] और [illegible]-भूषण जैसे सम्मान और उपाधियाँ

दे डाली। यही नहीं, इन्होंने रातों-रात सभी मतदाताओं को श्रेष्ठ रचनाकार की पंक्ति में लाईन हाजिर कर दिया। इन्हें सुबह-शाम यही बुखार चढ़ा रहता है कि विचार क्या होता है, प्रतिबद्धता क्या होती है, नियम क्या होता है, जायज-नाजायज क्या होता है? इनका मानना है कि साहित्य एक शाश्वत् आपा-धापी का कलावादी सुर है जिसे मिल-बाँटकर हजम किया जाना चाहिए। नतीजा यह है कि वे साहित्य में दरबारे-आम सजाये बैठे हैं तथा जनता का प्रवेश वहाँ वर्जित है। उनके लिए स्वामी रामकृष्ण परमहंस का कहना है कि—पानी में नाव चल सकती है लेकिन नाव में पानी नहीं चल सकता।

'गलतफहमियों' के शिकार मेरे एक दूसरे दोस्त हैं जो साहित्य को अनाथालय समझते हैं तथा वे इस बात को दहाड़-दहाड़कर कहते रहते हैं कि मेरे भी बाल-बच्चे हैं, आखिर मुझे तो पैसे चाहिए। चाहे कोई गाली सुनकर दे या कोई प्रशस्ति सुनकर दे। दूल्हा मरो या दुल्हन मरो, लेकिन ब्राह्मण की दक्षिणा बरकरार रहनी चाहिए। नतीजा यह है कि जो भी आता है, उन्हें कविता का मसीहा मानता है तथा गाँव देवता की तरह उनकी खड़ाऊ उठाता है। साहित्य उनकी जेब में है क्योंकि वह जेब में ज्यादा सुरक्षित रहता है। इनके पास समय कम है लेकिन इन्हें अनेक शोध-वृत्तियाँ और अनुबन्ध उपलब्ध हैं। बत्तीसें निपोरकर पान की दूकान पर जामे से बाहर आ जाना इनकी आदत है। इस दोस्त का मानना है कि भोग-विलास और शब्द-विलास साहित्य में आगे बढ़ने की इतनी उतावल है कि वे कतार तोड़ने में माहिर हैं, संस्थाओं की दीवारें फोड़ने में गजब का कमाल रखते हैं तथा वे लिखते कम हैं लेकिन छपते ज्यादा हैं। इनकी सारी चिन्ता इस बात पर लगी हुई है कि चारों तरफ मेरे निमन्त्रण घूमने चाहिए, अभिवादन होने चाहिए। अब ऐसे हड़बड़ी और अति उत्साही लेखक को किसी भी समस्या को समझने की आवश्यकता कैसे होगी? समस्या को गरज हो तो उनके पास मार्गदर्शन के लिए चली जाये, वरना उन्हें समस्या तक जाकर दुःख-सुख पूछने की फुर्सत कहाँ है? ऐसे ही कवियों में बहस चल पड़ी कि रेत पर किसने सबसे पहले रचना लिखी? जिसने पहले लिखी होगी, हम उसी की रचनाओं को प्रामाणिक तथा माटी से रिश्ते का आधार मानेंगे। दनादन शहर में बैठे-बैठे गली-मोहल्ले की रेत को रेगिस्तान की ऐतिहासिक रेत में बदल दिया गया तथा रेत की लहरों पर कविताएँ बिखेर दी। अब रेगिस्तान को पानी पीना हो तो शहर में कवि के पास आये और कविता समझ में नहीं आती हो तो पास के किसी अकाल राहत कार्य पर चला जाये। साहित्य में लेखक और पाठक का यही रिश्ता किसी कवि और रेगिस्तान का रिश्ता है, जिसकी दुहाई देते-देते व्यवस्था की चक्कियाँ अब इतनी चालाक हो गयी हैं कि वे बिना पाठकों के लेखक को सातवें आसमान पर चढ़ा देती हैं तथा यह सिलसिला बदस्तूर जारी रहता है। "आह को चाहिए इक उम्र, असर

होते तक; कौन जीता है तेरी जुल्फ के सर होने तक।" मनुष्य, समाज, देश और विश्व की गहराइयों में जो लेखक अण्डरवियर पहनकर कूद पड़े हैं, मैं उन्हें लौटाकर बाहर लाना चाहता हूँ ताकि वे अपने साहित्यिक मोती और आभूषणों की तलाश अपने ही समाज की उथल-पुथल में कर सकें। रसूल हमज़ातोव ने 'मेरा दागिस्तान' में इसीलिए कहा है कि तुम उसके जैसी टोपी तो पहन लोगे, लेकिन उसके जैसा दिमाग कहाँ से लाओगे? यही प्रश्न मैं अपने दोस्तों से कर रहा हूँ कि उन्हें सपने देखना तो आता है लेकिन सपने बनाना नहीं आता। उनके खाने और दिखाने के दाँत अलग-अलग हैं। उन्हें व्यवस्था की चक्कियाँ चलने की जल्दबाजी तो है लेकिन चक्कियों में पिसते अनाज को बाहर निकालने की कोई चिन्ता नहीं है। इनकी भाषा और शिल्प भी इतना चिरन्तन और ठोस है कि समाज में डूबन-उतरते लाखों पहाड़िया उन्हें समझ तक नहीं पा रहे हैं। इन सबके लिए पहाड़िया (जनता) गैर-साहित्यिक है क्योंकि वह साहित्य को समझती नहीं है। अब जिसे भी साहित्य से किसी से मिलना हो तो वह उसमें स्कूली पाठ्यक्रमों की कविता, कहानी, निबन्ध, नाटक, आलोचना में ही मिल लें, क्योंकि इसके बाद साहित्य को खरीदने, पढ़ने और समझने की दो जून फुर्सत मिलने वाली नहीं है।

वह आखिर धर्म, जाति, सम्प्रदाय, राजनीति की तलवारों से पेट को बचाते-बचाते ही हरिनाम को प्राप्त हो जाता है। लेखक, प्रकाशक और पाठक की यह अन्तर्कथा तो प्रचलित व्यवस्था और स्थितियों का एक उदाहरण है। यह समझदार चक्कियाँ जिस प्यार-मोहब्बत और दबाव से लेखक या आम जनता को पीसती हैं उस पर जिस दिन सीधे-सीधे प्रहार होगा, शायद उसी दिन इस दुनिया में सवेरा होगा। मैंने बात को जहाँ से उठाया था, अब वहीं ले आया हूँ। क्योंकि धर्मों में जीने का सुख पाखण्डियों के लिए है, किसी लेखक, कलाकार, नाटककार, गायक, पत्रकार के लिए नहीं है। जिस दुनिया में बहुमत के लिए काला अक्षर भैंस बराबर हो, उस दुनिया में लेखक को सबसे पहले स्थितियों के यथार्थ को जानना पड़ेगा। यदि वह वास्तविकताओं को नहीं समझ पाता तो वह सदैव भ्रम में ही रहेगा तथा भ्रमों की चक्कियों में उसकी बारीक पिसाई उसे और सब कुछ तो बना देगी पर लेखक नहीं बनने देगी। यह मुहावरा कितना दिल दहलाने वाला है कि "सरकार वह जो वायदे पूरे न करे तथा लेखक वह जो जीवन के यथार्थ को न समझे।" अब आप सब साथी फैसला करें कि अपने जन्म-दिन पर सेठों के बड़े-बड़े अखबारों में अपने अवतारी किस्से-कहानियाँ प्रकाशित करने वाला 'लेखक' वास्तविक लेखक है या गाँव में बिना टाटपट्टी वाले नीम तले की स्कूल में संघर्ष करने वाला लेखक वास्तविक लेखक है? यदि साहित्य में भी लेखक साथी भगवान बनने की सुनियोजित यात्रा करते हैं तथा अपने लिए किसी द्वारिका की खोज करते हैं तो ऐसी जानकी-यात्रा उन्हें ही मुबारक। मुझे मेरा यह कठोर यथार्थ ही प्रिय है।

नहीं जानते लेकिन आज राजनीति में प्रवीण उभर बने हुए हैं। इन महत्वाकांक्षी लोगों से यह आशा भाषा विज्ञान के आधार पर राजस्थानी की कोई बहस नहीं कर सकते क्योंकि ये लोग भाषा का निर्णय अपनी राजनैतिक और प्रशासकीय ताकत से करना चाहते हैं। ऐसे माहौल में राजस्थान, राजस्थानी संस्कृति और कला केवल पर्यटन की सामग्री बनती जा रही है। दुर्भाग्य से यहां का जनप्रतिनिधि दर में और चुनावसभा में तो राजस्थानी बोलता है लेकिन राजनैतिक व सामाजिक मंचों पर वह राजस्थानी का नाम लेने से घबराता है। बिजली, पानी, सड़क, पशुपालन और कृषि विकास के हल्ले में इस बात को भुलाने की चेष्टा की जा रही है कि यहां का किसान और मजदूर जिस लोकसभा को बोलता है, जिस लोकसंस्कृति को जीता है, जिस लोकगीत को गाता है और जिस लोकनृत्य पर झूमता है उसके संरक्षण और विकास के बिना आखिर हम किस पहचान और अधिकार से जियेंगे। गुजराती, तमिल, तेलगू, मलयाली असमिया, बंगाली, कश्मीरी पंजाबी और सभी प्रदेश के लोग राजस्थानी भाषा को प्यार और सम्मान देते हैं लेकिन हिन्दी का उतावला सकीर्णतावादी वर्ग राजस्थानी को अपनी दासी बनाकर रखने में ही सारा सुख समझता है। आखिर यह कौन-सा गणित है? नौकरी भर्ती में हिन्दी का ज्ञान अनिवार्य है लेकिन राजस्थानी का नहीं। यहां राजस्थानी भाषा को भी विश्वविद्यालयों में हिन्दी के माध्यम से पढ़ाया जाता है तथा सुलेआम राजस्थानियों की मातृभाषा हिन्दी को माना जाता है। जो राजनेता राजस्थानी बाजरे की रोटियां खाकर और मक्की की घाट पीकर बड़े हुए हैं वे ही आज बेशर्मी से कहते हैं कि कौन-सी राजस्थानी? जो लोग हल जोतते हुए बड़े हुए और देहातों में सूदखोरी करते हुए खड़े हुए, वही लोग आज पूछ रहे हैं कि कौन-सी राजस्थानी? राजस्थानी बोलते-बोलते शेखावाटी से लोटाडोर लेकर दिसावरन ये सेठों (डालमिया, बिड़ला, गोयनका आदि) के अखबार भी आज सबसे अधिक पूछ रहे हैं कि कौन-सी राजस्थानी? जिस तरह के सवाल आज राजस्थानी के लिये पूछे जा रहे हैं उसी तरह के सवाल आज प्रादेशिक-भाषाओं के लोग हिन्दी के लिये पूछ रहे हैं। यदि किसी को राष्ट्रभाषा की दयनीय स्थिति नहीं दिखाई देती तो किसी को राजस्थानी की दयनीय दशा भी दिखाई नहीं देती। हिन्दी ने प्रादेशिक भाषाओं की अवहेलना करके जहां अपना नुकसान किया है वहां भाषाविज्ञान के सभी मान्य सिद्धांतों को भी ठुकरा दिया है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम अंग्रेजी को निष्कासित करने की जगह प्रादेशिक भाषाओं को निष्कासित करने में लगे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का यह घिनौना रूप ही आज हिन्दी के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। यही कारण है कि देश की प्रादेशिक भाषाएं हिन्दी को एक साम्राज्यवादी और जबरन थोपी जाने वाली मानती हैं। जिस तरह संविधान में लिखे समाजवाद और धर्म-निरपेक्ष शब्दों का केवल नाममात्र का महत्व रह गया है उसी प्रकार हिन्दी के लिये राष्ट्रभाषा का महत्व भी केवल शब्दभर तक सीमित रह गया है। हिन्दी के व्यापारी

यही यथार्थ मेरा समर्थ है यही विचार मेरा सम्बल है तथा यही प्रतिबद्धता जनता को मेरा विनम्र समर्पण है। मैं साहित्य और जीवन में चाकरियों की राजनीति नहीं करता क्योंकि मेरा जन्म पाप निरखने के लिए हुआ है।

13-3-1986

जागते को कौन जगाये

राजस्थान में आज यदि सबसे बड़ा कोई संकट है तो वह यह कि यहां भाषा साहित्य, संस्कृति एवं कला की लगातार अवहेलना का सवाल है। पैसा कमाने, सरकार चलाने और यश की नाव तैराने के अलावा अब यहां किसी को भी सामाजिक विज्ञान और उसकी अस्मिता की चिन्ता नहीं है। देश में अंग्रेजी ने जो दुर्दशा हिन्दी की बना रखी है राजस्थान में वही दुर्दशा हिन्दी के निहित स्वार्थवाले सत्ताबाज पंडितों और राजकाजी मुसद्दियों ने राजस्थानी की बना रखी है।

राजस्थानी भाषा को कभी तो यहां भाषा नहीं माना जाता तो कभी यहां उसे बोलियों में विभाजित करके यह पूछा जाता है कि आखिर राजस्थानी भाषा का रूप क्या है? प्रभावशाली तबके कभी बागड़ीवालों की, कभी हाड़ौतीवालों की, कभी ढूंढाड़वालों की तो कभी मेवातवालों की पीठ थपथपाकर उन्हें राजस्थानी से अलग खड़ा करने की चेष्टाएं करते हैं तो कभी यह भय फैलाते हैं कि राजस्थानी भाषा—राजस्थान के विघटन का कारण बन जायेगी। यह सारी कूटनीति जयपुर से प्रारम्भ होती है तथा विश्वविद्यालयों, माध्यमिक शिक्षा मण्डल, लोक सेवा आयोग, प्राथमिक-माध्यमिक शिक्षा निदेशालय, केन्द्रीय साहित्य अकादमी, जनगणना विभाग और जनसंचार के माध्यमों तक बहुत ही चतुराई से चलाई जाती है। आपस में लड़ाना और राजस्थानी पर राज करना इस रणनीति का अंग है। जो भी व्यक्ति जोर देकर राजस्थानी भाषा-साहित्य की वकालत करता है उसे संकीर्णतावादी और क्षेत्रीयतावादी घोषित कर दिया जाता है तथा सभी तरफ से एक स्वर में आवाजें उठाई जाती है कि कौन-सी राजस्थानी?

प्यारे भाईयो! डा. ग्रियर्सन, मैकलिस्टर, रवीन्द्रनाथ टैगोर, कन्हैयालाल माणिक्य लाल मुंशी, सुब्रमण्यम भारती, मदनमोहन मालवीय और सुनीतिकुमार चटर्जी जैसे वरिष्ठ लोगों ने जिस स्वतन्त्र राजस्थानी भाषा को मान्यता दी है आज उस भाषा पर सर्वाधिक आरोप और कीचड़ वही उछाल रहे है जो भाषा और समाजविज्ञान को तो

नही जानते लेकिन आज राजनीति मे प्रवीण जरूर बने हुए है। इन महत्वाकांक्षी लोगो से अब आप भाषा विज्ञान के आधार पर राजस्थानी की कोई बहस नही कर सकते क्योकि ये लोग भाषा का निर्णय अपनी राजनैतिक और प्रशासकीय ताकत से करना चाहते है। ऐसे माहौल मे राजस्थान, राजस्थानी संस्कृति और कला केवल पर्यटन की सामग्री बनती जा रही है। दुर्भाग्य से यहा का जनप्रतिनिधि घर में और चुनावसभा मे तो राजस्थानी बोलता है लेकिन राजनैतिक व सामाजिक मचो पर वह राजस्थानी का नाम लेने से घबराता है। बिजली, पानी, सडक, पशुपालन और कृषि विकास के हल्ले में इस बात को भुलाने की चेष्टा की जा रही है कि यहां का किसान और मजदूर जिस लोकभभा को बोलता है, जिस लोकसंस्कृति को जीता है, जिस लोकगीत को गाता है और जिस लोकनृत्य पर झूमता है उसके संरक्षण और विकास के बिना आखिर हम किस पहचान और अधिकार से जियेंगे। गुजराती, तमिल, तेलगू, मलयाली, असमिया, बगाली, कश्मीरी, पजाबी और सभी प्रदेश के लोग राजस्थानी भाषा को प्यार और सम्मान देते हैं लेकिन हिन्दी का उतावला सकीर्णतावादी वर्ग राजस्थानी को अपनी दासी बनाकर रखने मे ही सारा सुख समझता है। आखिर यह कौन-सा गणित है? नौकरी भर्ती मे हिन्दी का ज्ञान अनिवार्य है लेकिन राजस्थानी का नही। यहा राजस्थानी भाषा को भी विश्वविद्यालयो मे हिन्दी के माध्यम से पढाया जाता है तथा खुलेआम राजस्थानियो की मातृभाषा हिन्दी को माना जाता है। जो राजनेता राजस्थानी बाजरे की रोटिया खाकर और मक्की की घाट पीकर बडे हुए है वे ही आज बेशर्मी से कहते हैं कि कौन-सी राजस्थानी? जो लोग हल जोतते हुए बडे हुए और देहातो मे सूदखोरी करते हुए खडे हुए, वही लोग आज पूछ रहे हैं कि कौन-सी राजस्थानी? राजस्थानी बोलते-बोलते शेखावाटी से लौटाडोर लेकर दिसावरग ये सेठो (डालमिया, बिडला, गोयनका आदि) के अखबार ही आज सबसे अधिक पूछ रहे है कि कौन-सी राजस्थानी? जिस तरह के सवाल आज राजस्थानी के लिये पूछे जा रहे हैं उसी तरह के सवाल आज प्रादेशिक-भाषाओ के लोग हिन्दी के लिये पूछ रहे है। यदि किसी को राष्ट्रभाषा की दयनीय स्थिति नही दिखाई देती तो किसी को राजस्थानी की दयनीय दशा भी दिखाई नही देगी। हिन्दी ने प्रादेशिक भाषाओ की अवहेलना करके जहा अपना नुकसान किया है वहा भाषाविज्ञान के सभी मान्य सिद्धान्तो को भी ठुकरा दिया है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम अंग्रेजी को निष्कासित करने की जगह प्रादेशिक भाषाओ को निष्कासित करने मे लगे है। अन्तर्राष्ट्रीय उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का यह घिनौना रूप ही आज हिन्दी के मार्ग मे सबसे बडी बाधा है। यही कारण है कि देश की प्रादेशिक भाषाए हिन्दी को एक साम्राज्यवादी और जबरन थोपी जाने वाली मानती है। जिस तरह सविधान मे लिखे समाजवाद और धर्म-निरपेक्ष शब्दो का केवल नाममात्र का महत्व रह गया है उसी प्रकार हिन्दी के लिए राष्ट्रभाषा का महत्व भी केवल शब्दभर तक सीमित रह गया है। हिन्दी के ध्वजधारी

जिस दिन देश की प्रादेशिक भाषाओं को महत्व देंगे उस दिन हिन्दी अपने आप राष्ट्र-भाषा का गौरव प्राप्त कर लेगी। राजस्थानी भाषा और जनजीवन के हजारों साहित्य-ग्रन्थों, लेखकों और मां के दूध से निकली वाणी को नकारकर हिन्दी का यहां कभी कोई सम्मान नहीं कर पायेगा। मुझे यह देखकर हंसी आती है जब राजस्थानी नहीं जानने वाले लोग डा. ग्रियर्सन, टैसीटरी, रवीन्द्रनाथ के भी पूर्वज बनकर राजस्थानी के बारे में यह फतवा देते हैं कि राजस्थानी भी कोई भाषा है। हो सकता है आज की राजनीति में राजस्थानी को दबाने से और भुलाने से किसी वर्ग विशेष की चौधराहट चलती हो लेकिन इस बात को मत भूलियेगा कि आसाम के चुनाव भाषा और संस्कृति के आधार पर लड़े गये तथा पंजाब और हरियाणा के बीच गांवों का बंटवारा करने के लिये भाषाई सर्वेक्षण हमें करना पड़ा। जनगणना विभाग की कारीगरी आखिर किस राष्ट्रहित में चलाई जा रही है। जनगणना के फार्म में मनचाहे ढंग से बोलियों और भाषाओं की तालिकाएं बना दी गई हैं तथा राजस्थानी को अनेक बोलियों और उपबोलियों तक में बांटकर इस तरह भाषाई गणना की गई है कि राजस्थानी बोलने वालों की असली संख्या बहुमत से अल्पमत में बदल दी जाये। बांगड़ी राजस्थानी, हाड़ौती राजस्थानी, भीली राजस्थानी और न जाने कितने प्रकार की राजस्थानी जनगणना विभाग ने तैयार कर दी है। महज इसलिये कि राजस्थानी सो रहा है, असंगठित है तथा सांस्कृतिक एकता में नहीं बंधा हुआ है। दुर्भाग्य से राजस्थान के राजनैतिक नेतृत्व ने भाषा और संस्कृति को कभी महत्व नहीं दिया तथा नौकरीपेशा राजस्थानियों ने सिर झुकाकर जो आया उसकी भेड बनना स्वीकार कर लिया। आज विदेशी लोग जिस प्रकार हमारी अंग्रेजी-परस्ती पर हसते हैं ठीक उसी तरह देश की अन्य प्रादेशिक भाषाओं के लोग राजस्थानियो पर हसते हैं।

राजस्थानी खुद सो रहे हैं। पैसा कमाने और मंदिर-धर्मशालाए बनवाने की प्रतियोगिता में वे मां के आंचल का दूध पीना भूल चुके हैं। भाषा उन्हें संकीर्ण लगती है और सत्ता एवं व्यापार उन्हें विस्तृत-व्यापक लगता है।

विश्वविद्यालय मे राजस्थानी की एम. ए. की पढ़ाई तो दी जाती है लेकिन राजस्थानी में एम. ए. पास को स्कूलों में राजस्थानी पढाने के लिये वरिष्ठ अध्यापक नहीं बनाया जाता। इसकी तुलना में हिन्दी एम. ए. से राजस्थानी पढ़वाई जाती है। माध्यमिक शिक्षा निदेशालयों से सैकड़ों स्कूलें अपने यहां नवीं से ग्यारहवी कक्षा तक राजस्थानी विषय प्रारम्भ करने की अनुमति मांगती हैं लेकिन यह आवेदन वर्षों तक निदेशालय में सड़ते रहते हैं। यहां तक कि मुख्याध्यापकों को इस तरह समझाया जाता है कि वे राजस्थानी के चक्कर मे नही पड़ें। राजस्थान विश्वविद्यालय ने बड़ी हायतोबा के बाद जयपुर स्थित दो महाविद्यालयों (महारानी और राजस्थान कॉलेज) में प्रथम वर्ष टी. डी. सी. में राजस्थानी का ऐच्छिक विषय प्रारम्भ किया था, लेकिन

किसी को भी इस नये विषय की जानकारी नहीं दी गई और जब सूचना के अभाव में लड़कों ने राजस्थानी विषय में प्रवेश नहीं लिया तो विश्वविद्यालय कहता है कि—राजस्थानी तो कोई पढ़ना ही नहीं चाहता। राजस्थान की जूती और राजस्थान का ही सिर वाली कहावत ये लोग कितनी चालाकी से दोहरा रहे हैं।

प्राथमिक कक्षा तक तो राजस्थानी का नामोनिशान नहीं रखा गया तथा छठी से आठवीं कक्षा तक भी राजस्थानी भाषा को अस्वीकार कर दिया गया, लेकिन नवीं कक्षा से इसकी पढ़ाई की ऐच्छिक व्यवस्था जरूर कर दी गई। अब कोई नवीं से एम. ए. तक हिम्मत करके पढ़ाई भी कर ले तो फिर राजस्थान की किसी छोटी-बड़ी नौकरी में राजस्थानी भाषा का कोई स्थान नहीं। आखिर, विद्यार्थी राजस्थानी क्यों पढ़े? यह सारी व्यूह-रचना इस तरह की गई है कि राजस्थानी पढ़ना लोग स्वत ही छोड़ दें और फिर वे लोग यह भी कह सकें कि हम तो राजस्थानी का विकास चाहते है पर लोग ही इसे नहीं चाहते। 7वीं राजस्थान विधानसभा के समक्ष लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत का निजी प्रस्ताव वर्षों तक विचार नहीं हो पाने के कारण—विधानसभा की अवधि समाप्ति के बाद स्वतः ही समाप्त हो गया। इस प्रस्ताव में केन्द्र सरकार से राजस्थानी को संविधान की 8वीं सूची में जोड़ने का प्रश्न था। इसे कहते हैं राजनीति।

इसी तरह पटियाला और उदयपुर में राजस्थान की संस्कृति, कला और साहित्य विकास एवं संरक्षण के लिये केन्द्र सरकार दो संस्कृति केन्द्र बना रही है। इनकी सामान्य सभाओं में राज्य की हिन्दी अकादमी तो है लेकिन राजस्थानी भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अकादमी गायब है। हम जानना चाहते है कि राजस्थानी के बिना-राजस्थानी में यह संस्कृति केन्द्र किसका संरक्षण और विकास करेंगे। यहां तक कि केन्द्रीय साहित्य अकादमी, नई दिल्ली की राजस्थानी भाषा समिति में, हिन्दी अकादमी की सदस्यता है लेकिन राजस्थानी अकादमी इसकी राजस्थानी भाषा समिति तक में नहीं है। मैं यह उदाहरण देकर स्पष्ट करना चाहता हू कि राजस्थानी भाषा खुद नहीं डूब रही बल्कि उसे हिन्दी के पहलवान मिलकर डुबा रहे हैं। मैं एक विनम्र हिन्दी लेखक होने के नाते इस सामाजिक-आर्थिक एवं राजनैतिक प्रभुसत्ता की हिन्दीवालों की उपनिवेशवादी नीति को अन्ततोगत्वा राष्ट्रभाषा के लिये नुकसानदेह मानता हूं। यूनेस्को का सर्वेक्षण बताता है कि हिन्दी भारतवर्ष के किसी भी बच्चे की मातृभाषा नहीं है, तथा यह विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं की समन्वित शक्ति से ही राष्ट्रभाषा बनी है, जबकि राजस्थानी—प्रदेश की मातृभाषा है सरकार माने या नहीं माने पर जनता तो मानती और जानती ही है।

राजस्थान सरकार ने 25 जनवरी, 1983 को स्वतन्त्र राजस्थानी अकादमी की स्थापना की थी। उस समय इसका वार्षिक बजट एक लाख 60 हजार रुपये

राजस्थानी भाषा की नाव डूबेगी नही तो क्या होगा ? इस अराजकता पर एक समस्या और है कि यहा का लेखक अकादमी के तो कपडे फाडता है लेकिन वह सरकार माई-बाप से कुछ नही कहता । क्या-क्या कहे ।

यदि समय रहते राजस्थानी के विरुद्ध चालू इस दुष्चक्र को नही रोका गया तो मैं विनम्रता से कहना चाहूगा कि बदलते सामाजिक-आर्थिक एव राजनैतिक हित प्रदेश को गभीर खतरे मे धकेल देंगे । आज मुट्ठी भर प्रभुतासम्पन्न लोग अपनी रोजी-रोटी और स्वार्थों के कारण भाषा को भाषा नहीं मानते, राष्ट्रभाषा को राष्ट्र-भाषा नही मानते, राजस्थान को राजस्थान नही मानते । हमे इस समीकरण को समझना चाहिए, जागना चाहिये और बोलना चाहिए ।

6-3-1986

आगे क्या होगा

पंजाब मे जरनैल सिंह भिण्डरावाले के समर्थको ने स्वर्ण मन्दिर पर नियत्रण कर लिया है, हथियार जमा किये जा रहे हैं, श्रीमती इन्दिरा गाधी के हत्यारे की विधवा का अभिनन्दन किया जा रहा है, पाकिस्तान के सैनिक प्रशिक्षण कैम्पो से सिक्ख नौजवान (आल इण्डिया सिक्ख स्टूडेंट फैडरेशन) तोड-फोड और आतक फैलाने की शिक्षा लेकर आ रहे हैं, जिस अकाल तख्त को करोडो रुपये खर्च करके सरकार ने ब्लू स्टार आपरेशन के बाद वापिस बनवाया था उसे तोडकर गिरा दिया गया है तथा अलग से आतकवादियों का सरबत खालसा हो रहा है । दूसरी तरफ हिन्दू आबादी मे भय, बेचैनी, भगदड़ और प्रतिरोध की भावना बलवती है । त्रिशूल यात्राएँ निकालने की तैय्यारी है तथा बम्बई की तरह यहाँ भी शिव सेना का गठन कर लिया गया है, क्योंकि हिन्दुओ को सरकार पर भरोसा नही है तथा उसे भगवान शिव पर ज्यादा विश्वास है ।

आपको समझ मे आ रहा है कि अब आगे क्या होगा ? यदि बहुतो को समझ मे नही आ रहा है तो वे समझ लें कि अब संघर्ष होगा या फिर आतंकवादियो से मौदेवाजी और कोई समझौता होगा । दुर्भाग्य से सरकार के सारे शातिपूर्ण प्रयास असफल हो चुके हैं तथा अब एक ही उपाय आतंकवादियो को स्वर्ण मदिर से बाहर निकालने का शेष है कि वह बल प्रयोग करे । हाँ, यदि अब दोबारा बल प्रयोग होता

राजस्थानी भाषा की नाव डूबेगी नही तो क्या होगा ? इस अराजकता पर एक समस्या और है कि यहां का लेखक प्रवादमी के तो कपडे फाडता है लेकिन वह सरकार माई-बाप से कुछ नही कहता । क्या-क्या कहें ।

यदि समय रहते राजस्थानी के विरुद्ध चालू इस दुष्चक्र को नही रोका गया तो मैं विनम्रता से कहना चाहूंगा कि बदलते सामाजिक-आर्थिक एव राजनैतिक हित प्रदेश को गभीर खतरे मे ढकेल देगे । आज मुट्ठी भर प्रभुतासम्पन्न लोग अपनी रोजी-रोटी और स्वार्थों के कारण भाषा को भाषा नही मानते, राष्ट्रभाषा को राष्ट्र-भाषा नही मानते, राजस्थान को राजस्थान नही मानते । हमे इस समीकरण को समझना चाहिए, जागना चाहिये और बोलना चाहिए ।

6-3-1986

आगे क्या होगा

पजाब मे जरनैल सिह भिण्डरावाले के समर्थको ने स्वर्ण मन्दिर पर नियत्रण कर लिया है, हथियार जमा किये जा रहे हैं, श्रीमती इन्दिरा गाधी के हत्यारे की विधवा का अभिनन्दन किया जा रहा है, पाकिस्तान के सैनिक प्रशिक्षण कैम्पों से सिक्ख नौजवान (आल इण्डिया सिक्ख स्टूडेंट फैडरेशन) तोड-फोड और आतक फैलाने की शिक्षा लेकर आ रहे हैं, जिस अकाल तख्त को करोडो रुपये खर्च करके सरकार ने ब्लू स्टार आपरेशन के बाद वापिस बनवाया था उसे तोडकर गिरा दिया गया है तथा अलग से आतकवादियो का सरबत खालसा हो रहा है । दूसरी तरफ हिन्दू आबादी मे भय, बेचैनी, भगदड और प्रतिरोध की भावना बलवती है । त्रिशूल यात्राएँ निकालने की तैय्यारी है तथा बम्बई की तरह यहाँ भी शिव सेना का गठन कर लिया गया है, क्योंकि हिन्दुओ को सरकार पर भरोसा नही है तथा उसे भगवान शिव पर ज्यादा विश्वास है ।

आपको समझ मे आ रहा है कि अब आगे क्या होगा ? यदि बहुतो को समझ मे नही आ रहा है तो वे समझ लें कि अब सघर्ष होगा या फिर आतंकवादियों से सौदेबाजी और कोई समझौता होगा । दुर्भाग्य से सरकार के सारे शातिपूर्ण प्रयास असफल हो चुके हैं तथा अब एक ही उपाय आतंकवादियो को स्वर्ण मंदिर से बाहर निकालने का शेष है कि वह बल प्रयोग करे । हाँ, यदि अब दोबारा बल प्रयोग होता

मुझे शहीदी जत्थे का विचार प्रयोग के तौर पर अच्छा लग रहा है लेकिन इन शहीदी जत्थों में जाये कौन ? सबके बाल बच्चे हैं। कोई कहता है इस जत्थे में भूतपूर्व सैनिकों का दल लेकर जनरल जे. एस. अरोड़ा जायें तो कोई कहता है एयर मार्शल अर्जुन सिंह जायें, तो कोई अमृता प्रीतम और खुशवन्त सिंह को भेजना चाहता है तो किसी का विचार है कि सभी प्रकार की सेवाओं से निवृत्त न्यायाधीश, वकील, सैनिक, राजनेता, उद्योगपति, समाजसेवी, लेखक, पत्रकार, कलाकार, किसान, मजदूर एक साथ मिलकर शहीदी जत्था लेकर स्वर्ण मन्दिर में जायें। अब तक सभी ने

शहीदी जत्थे में जाने के लिये दूसरों का ही नाम सुझाया है तथा खुद का नाम किसी ने भी नहीं लिखाया है। दिन पर दिन निकल रहे हैं, गुरु ग्रंथ साहब की पवित्रता नष्ट हो रही है, हरमिंदर में आतंकवादी बहुकें साफ कर रहे हैं तथा स्वर्ण मंदिर के पवित्र सरोवर में नहा धो रहे है और नीली पगड़ियाँ सुखा रहे हैं। हम सब परेशान हैं, पूरा देश परेशान है। आखिर समस्या कैसे हल होगी और कौन शहीदी जत्थे में जायेगा ?

आप बुरा नहीं मानियेगा, मैं आपको इस समस्या का बहुत आसान हल बताना चाहता हूं। धर्म तथा सम्प्रदायों की राजनीति और आतंकवादिता का एक ही विकल्प हमें दिखाई देता है कि इन सबसे निपटने के लिये देश में जितने धर्म-सम्प्रदाय हैं, उनके गुरु, सत-महंत, मुल्ला-मौलवी, पादरी, मुनि, आचार्य और भगवानों का एक शहीदी जत्था बनाकर स्वर्ण मंदिर में भेजा जाय। ये सभी धार्मिक नेता समाज के सबसे पूजनीय व्यक्ति हैं, धर्म-अधर्म की व्याख्याएँ जानते हैं तथा मनुष्य के चित्त और प्रवृत्तियों से भी भली-भांति वाकिफ हैं। इनके आगे पीछे भी बाल-बच्चे नहीं हैं तथा ये सभी देह को नश्वर मानते हैं। ये सभी धर्म और सम्प्रदाय के नेता पूर्वजन्म और भाग्य में विश्वास करते हैं तथा समाज को पशुता से दैवीय स्थिति में बदलना मानते हैं। इन धर्मगुरुओं के चरणों में सरकारें और लक्ष्मी-पुत्र वंदना करते हैं तथा आशीर्वाद लेते है। ये भगवान सैय्यदना, मुनि, आचार्य, पादरी, काजी, ब्रह्मचारी, सदाचारी तीन लोक की माया को समझते हैं। इनके पास सिद्धि और चमत्कार हैं, देवी-देवता और अवतार है, मन्दिर-मस्जिद-गुरुद्वारे और गिरजाघर हैं। इन सभी सर्वशक्तिमानों का एक शहीदी जत्था यदि स्वर्ण मन्दिर में धर्मपताकाएँ लेकर, आरती गाता, कुरान की आयतें पढ़ता हुआ, बाइबल के उपदेश सुनाता हुआ, ढोलक-मजीरे और चिमटे बजाता हुआ, गुरुनानक जी की तस्वीर हाथ में लेकर जाये तो हमारा विश्वास है कि स्वर्ण मन्दिर के भीतर बैठे आतंकवादी और दमदमी टकसाल के जत्थेदार इनका हाथ जोड़कर सिर नवाकर स्वागत करेंगे तथा कहेंगे कि—एक कहे दूजे ने मानी, गुरुनानक कहे दोनो ज्ञानी। साप भी मर जाये तथा लाठी भी नहीं टूटेगी। इस शहीदी जत्थे में कौन-कौन जायें, किस साधन से अमृतसर पहुंचें, क्या रणनीति हो, इनकी दूसरी शहीदी जत्थे वाली पंक्ति में कौन-कौन रहेंगे तथा इस 'स्वर्ण मन्दिर मुक्ति यात्रा' का संचालन कौन करेगा, जैसी सभी बातों पर अविलम्ब एक सर्वधर्म सम्मेलन बुलाया जाय तथा जिसमें देश के सभी साम्प्रदायिक नेताओं को विचार विमर्श के लिये आमंत्रित किया जाय तथा स्वर्ण मन्दिर मुक्ति का व्यापक योजना पत्र तैयार किया जाय ताकि सुनियोजित ढंग से सारा काम सम्पन्न कराया जा सके।

जो लोग समझते हैं कि सारा काम सरकार करेगी अथवा राजीव गांधी करेंगे, यह सोच-समझ बिल्कुल गलत है। यह देश हमारा है अतः इसका हर सुख-

करने में कोई कोर कसर नहीं उठा रखी है। इस माया और सत्ता के जाल में देश का बड़े से बड़ा सर्वोच्च व्यक्ति भी शामिल है तथा गरीब आदमी तो अपनी किस्मत को साधु-संतों, मुल्ला-मौलवियों, ग्रंथी-पादरियों के चरणों में शताब्दियों से रखे हुए है। मन्दिर-मस्जिद, गिरजाघर और गुरुद्वारों के चक्कर लगाते-लगाते लोकतन्त्र की एड़ियां घिस गई हैं तथा सबसे बड़ा मजाक ऊपर से यह है कि हर नेता और विचारक धर्म को राजनीति से अलग रखने के प्रवचन दे रहा है।

मैं बहुत सदाशयता से यह समझना चाहता हूँ कि जब राजस्थान की 80 प्रतिशत आबादी अनाज और पानी के अकाल से पीडित सड़कों पर मिट्टी खोद रही है तब आचार्य तुलसी को 'अमृत महोत्सव' मनाने और राष्ट्रपति जी को उदयपुर बुलाकर परेशान करने की क्या आवश्यकता थी? देश की जनता तो जहर पीकर रह जा रही है तथा आचार्य तुलसी अमृत महोत्सव में लीन हैं। यही नहीं, शायद देश में आचार्य तुलसी ही एकमात्र ऐसे तथाकथित साधु हैं जिनके जलसों में केन्द्र और राज्य के बेहिसाब मन्त्रियों की यात्रा होती है। इस यात्रा के सामान्य जनता पर क्या प्रभाव पड़ते है, इसकी कल्पना शायद कोई नहीं करता। मुझे याद है गत लोंगोवाल और गृहमन्त्री एस. बी. चह्वाण भी पंजाब समझौते के पूर्व आमेट (उदयपुर) गये थे तथा आचार्य तुलसी से लम्बी बातचीत हुई थी। आचार्य तुलसी क्या हैं, मैं नहीं जानना चाहता, लेकिन इतना अवश्य जानना चाहता हूँ कि आचार्य तुलसी को इन सब राजनेताओं से अपने जलसे और प्रवचन सजाने की क्या आवश्यकता है? दूरदर्शन, आकाशवाणी एवं अखबार वालों की भीड़ अपने इर्द-गिर्द खड़ी करने की क्या जरूरत है? किसी नेता के आने से मैं नहीं समझता कि धर्म के रथ को कोई विशेष लाभ मिलता हो।

हाँ! मुझे इतना पता है कि आचार्य तुलसी के पीछे सेठों की भारी भीड़ है तथा इनके एक-एक जलसे में 5–7 मन्त्री जरूर हाजिर रहते हैं तथा वे इन पर कविताएँ लिखकर भी पढ़ते हैं और तो और हमारे बुजुर्ग लेखक और पुराने राजनेता पण्डित जनार्दन रॉय नागर भी आचार्य तुलसी को 'भारत ज्योति' की उपाधि से सम्मानित करने का काम रहे हैं। मुझे ज्ञात है कि इस 'भारत ज्योति'—उपाधि का महत्व क्या है लेकिन राष्ट्रपति के हाथों यह मुफ्त उपाधि पकड़ाकर जन्नू भाई ने राष्ट्रीय स्तर पर जो भारी प्रचार पाया है, उससे उनके राजस्थान विद्यापीठ को देर-सवेर तुलसी भक्तों से लाभ अवश्य मिलेगा। भारत-रत्न की तर्ज पर भारत-ज्योति की उपाधि का क्या इतिहास—भूगोल और सामाजिक महत्व है, इसे जनार्दनराय नागर भी जानते हैं और हम भी जानते हैं। धर्म और राजनीति की बहती नदी में आखिरकार 80 वर्ष के शिवपुराणवादी लेखक को नहाने की रातोंरात क्या आवश्यकता पड़ गई, हमें यही समीकरण समझने चाहिए।

मैं फिर विनम्रता से यह समझना चाहता हूँ कि इन सैय्यदना साहब के पास ऐसा कौन सा खजाना है ? मुझे ज्ञात है सैय्यदना साहब यह सहयोग हर प्रधानमन्त्री तथा मुख्यमन्त्री को बराबर देते रहे है तथा इसी गठबन्धन के कारण सरकार धर्मगुरु सैय्यदना के सारे कारनामों को यह कहकर अनदेखा कर देती है कि यह एक धर्म का मामला है और हम धर्म निरपेक्ष है। इस प्रसंग में मेरा एक बार असगर अली इन्जीनियर के साथ राज्य के एक तत्कालीन मुख्यमन्त्री से मिलना हुआ। सारी बात सुनकर वे बोले—व्यास जी ! मैं व्यक्तिगत रूप से आपकी बात से सहमत हूँ। लेकिन आप जानते है यह एक धार्मिक मामला है। अच्छा हो, केन्द्र सरकार की ओर से आप कोई राष्ट्रीय नीति तैयार करवाने का प्रयास करें। मैं इस तरह के विवादों में बहुत असहाय और छोटा हूँ। आपको ज्ञात हो, राजस्थान के बांसवाड़ा जिले में बोहराओं का मुख्य तीर्थस्थल गलियाकोट अवस्थित

है तथा दक्षिणी राजस्थान में बोहरा (सम्पन्न व्यापारी वर्ग) समुदाय का भारी जनमत है।

मैंने राजस्थान के इन दो उदाहरणों को समझने-समझाने के लिए इसलिए चुना कि ये इन दिनों समाचारों में हैं। प्रान्त में और देश में धर्म, जाति, क्षेत्रीयता और सम्प्रदायों की आंधी चल रही है तथा खण्डेलवाल और अग्रवाल दिवस मनाये जा रहे हैं। राम जन्मभूमि अयोध्या के वर्षों से बन्द पड़े धर्मस्थल के ताले अदालती आदेश पर खुल जाने से मुसलमान भाई उसे पुरानी बाबरी मस्जिद बताकर देश में साम्प्रदायिक दंगे भड़का रहे हैं। पिछले दिनों सदाचारी महाराज को धोखाधड़ी एवं व्यभिचार में बम्बई की पुलिस ने जब गिरफ्तार किया तो पता चला कि उनके सत्संगों में देश के प्रथम नागरिक से लेकर अन्तिम नागरिक तक आता था। अभी पिछले दिनों आचार्य रजनीश और स्वामी मुक्तानन्द की नंगी कहानियाँ पढ़कर पता चला कि हर भगवान की जड़ में सुन्दर चेले-चेलियों की महत्वाकांक्षाएँ और वासनाएँ छिपी हैं तथा इनके सम्बन्ध समाज के अत्यधिक सम्पन्न उद्योगपतियों, अफसरों तथा राजनेताओं से हैं। समाज में गरीबों से सम्मान पाने के लिए और उन्हें शोषण की चक्की में पीसते रहने के लिए इन धर्मगुरुओं को राज्यसत्ता से दोस्ती करनी पड़ती है। क्योंकि धर्म और सम्प्रदाय के पीछे जुड़ी पैसे वाली ताकतें अनपढ़ जनता के वोट नेताओं को दिलाती हैं तथा इसके बदले में पैसे वाले अपना कारोबार सत्ता के आशीर्वाद से दिन-दूने रात-चौगुने बढ़ाते रहते हैं। यहाँ उद्योगपतियों ने, बड़े नेताओं ने, बड़े अफसरों ने सन्त, मौलवी, ग्रन्थी और पादरी को लूट-खसोट की महाभारत में शिखण्डी की तरह इस्तेमाल करने की परम्परा डाल दी है। आज पंजाब में जो कुछ हो रहा है, उसकी जड़ में इन्हीं धार्मिक ताकतों और राजनैतिक ताकतों की मिलीभगत है। जरनैल सिंह भिण्डरावाले आखिर किसकी देन हैं? अकाली दल की राजनीति का आधार क्या है? तथा श्रीमती इन्दिरा गाँधी के हत्यारों की पत्नियों का आज अभिनन्दन करने का साहस खुलेआम किसके बल पर हो रहा है तथा स्वर्ण मन्दिर में स्वतन्त्र खालिस्तान के नारे और झण्डे आज कौन लगा रहा है? आप बुरा मत मानियेगा कि इस पूरी राजनीति के पीछे धर्म का कीर्तन ही प्रमुख है। आज धर्म और राजनीति की दुरभि सन्धि ने देश को विघटनवाद की स्थिति में खड़ा कर दिया है तथा यहाँ लाखों शाहबानो, सुप्रीमकोर्ट के फैसलों के बावजूद भी शोषित, पीड़ित और दलित हैं। आज भी हमारे देश से भगाये गये बाल-भगवान अमरीका में बैठे-बैठे लाखों लोगों को अपना चेला बनाये हुए हैं तथा आज भी आनन्दमार्ग तथा जमाते इस्लामी जैसे संगठन यहाँ बराबर फल-फूल रहे हैं। इसी का व्यापक परिणाम है कि हमारा समाज लगातार टूट रहा है, पाखण्ड और संकीर्णताओं में उलझ रहा तथा संविधान और लोकतन्त्र के पुतले जला रहा है। मैं सभी के धर्मों का आदर

करता हूँ लेकिन धर्म को सार्वजनिक जलसे-जुलूस और नियोजित प्रचार-प्रसार का आधार नही बनाना चाहिए। समाजवादी देशों मे भी धर्म है, लेकिन वह व्यक्तिगत आस्था और मान्यता का विषय है, वहाँ धर्म को राजकीय सम्मान नही दिया जाता तथा सत्ता उस धर्म के या जाति के किसी भी काम मे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से शामिल नही होती। यही कारण है कि वहाँ धर्म आस्था की व्यक्तिगत छूट भी है तथा धर्म और राजनीति की दूरी भी है। जब हमारे देश मे एक सम्प्रदाय सारे पाखण्डो के माध्यम से आगे बढ़ने की, सत्ता को नियन्त्रण मे रखने की कोशिश करता है तो उसकी प्रतिक्रिया मे दूसरा सम्प्रदाय भी ताल ठोक कर मैदान मे उतर आता है। परिणाम वही ढाक के तीन पात। धर्म और राजनीति की जड सदैव हरी बनी रहती है लेकिन लोकतन्त्र, धर्म निरपेक्षता और समाजवाद की संवैधानिक जडे खोखली होकर सूखती जाती है।

मेरा उन सभी से अनुरोध है कि जो धर्म को स्वर्ग जाने का प्रमाण-पत्र मानते है—वे कृपया धर्म एवं सम्प्रदाय को अपना व्यक्तिगत विषय ही रखें तथा उसकी सार्वजनिक पताका न फहराये। मुनियो, मौलवियों, ग्रंथियो एव पादरियो को राजनेताओ के लिए जलसे नही सजाने चाहिए तथा राजनेताओं को इन धर्मगुरुओ के किसी भी कार्यक्रम मे जाकर सार्वजनिक वन्दना, अभिनन्दन, प्रवचन और जनसंचार माध्यमो पर अपनी प्रचार-तस्वीर नही उछालनी चाहिए। मजारो पर चादर चढ़ाने से, धर्म-देहरी पर मत्था टेकने से, समाज-शोषको के दीर्घायु होने की कामना करने से, भूखे-नंगे देश मे अमृत महोत्सव मनाने से तथा जेलो और सचिवालयो मे सन्त-महन्तो के प्रवचन करवाने से हमारा कोई भला नही होने वाला है। किसी राज्यपाल को किसी साई बाबा के चरण छूने है, किसी मुख्यमन्त्री अथवा मन्त्री को अपना इहलोक और परलोक सुधारना है, किसी न्यायाधीश को यदि ब्रह्मकुमारी ईश्वरीय विश्वविद्यालय मे जाना है, किसी बडे अधिकारी को रामकृष्ण भाकी अथवा गोविन्द देव जी के मन्दिर दिन मे दस बार जाना है, किसी राजनेता को धर्मान्ध मदीनाा-वादी शिक्षण के कार्यक्रमो की सदारत करनी है या किसी को भी किसी भी धर्म जाति एव सम्प्रदाय की आरती उतारनी है, वह मेहरबानी करके अपनी यह आस्था और भावना व्यक्तिगत चार-दिवारी मे ही रखे क्योंकि इससे धर्म को सामाजिक मान्यता नही मिलेगी और धर्म केवल धर्म की जगह ही बना रहेगा। 15वी शताब्दी के बाद से धर्म का जो व्यवसायीकरण एव राजनीतिकरण हुआ है, उसी का यह परिणाम है कि हम आजादी की लडाई जीतकर भी एकता और सम्पूर्ण विकास की लडाई हारते आ रहे है। उपदेश देने मे करोडो मुँह खुले हुए है, लेकिन कर्मवाद और मानव-कल्याण के लिए करोडो हाथ बेकार पडे है तथा हर धर्म मनुष्य को प्रेम सिखाने की जगह उसमे नफरत, स्वार्थ, सत्ता और पाखण्ड के बीज बो रहा है। 50 साल समाज की सेवा करने के बाद भी यदि किसी व्यक्ति को रोजी-रोटी

जातियों से अपना अभिनन्दन करवाना पड़े तथा धर्मगुरुओं के ग्रन्थ सम्पादित और अनुवादित करने पड़े तो यह उनका दुर्भाग्य तो है ही, देश के लिए भी गम्भीर संकट है। मेरा कथन बहुतों को बुरा लग सकता है, लेकिन देश के हित में मुझे भी यह स्थिति बहुत बुरी लगती है कि हम धर्म, सम्प्रदाय, जाति और क्षेत्रीय सत्ताओं का व्यावसायीकरण और राजनीतिकरण कर दें। देश में शायद ही पहले, कभी इस तरह का बहुमुखी और बहुउद्देश्यीय धार्मिक फासीवाद उभरा हो। इसलिए मेरी चिन्ता यह है कि इन धर्मगुरुओं को 520वीं शताब्दी के तहखानों तक ही सीमित कर दिया जाये तथा इनमें से जो भी धर्मगुरु जन-मुक्ति के संघर्ष में साथ चलने की ईमानदारी दिखाये, उसके ही दीर्घायु होने की कामना की जाये। ईसामसीह, गुरुनानक, हजरत मोहम्मद, गौतम बुद्ध, महावीर और शंकराचार्य जैसे अनेक प्रेरक पुरुषों ने कभी किसी राजनेता और उद्योगपति को अपना चेला और प्रचारक नहीं बनाया। तब आज के धर्मगुरुओं की परेशानी क्या है? या तो वे गलत थे या फिर आज ये गलत हैं। कोई मुझे भी समझाये कि मेरी मुक्ति अमृत महोत्सव से होगी, बाबरी मस्जिद के आन्दोलन से होगी। सम्भोग से समाधि की मार्फत होगी, स्वर्ण मन्दिर को खालिस्तान का केन्द्रीय कार्यालय बनाने से होगी, नरमुण्डों के सड़का-जुलूस से होगी, बोहरा जाति को गुलाम बनाने से होगी, अथवा मन्दिर-मस्जिदों, गुरुद्वारों तथा गिरजाघरों की परिक्रमा करने से होगी। 21वीं शताब्दी में इस महाभारत के बाद स्वर्गयात्रा के लिए युधिष्ठिर के साथ आखिर कौन जीवित रहकर आगे चल पायेगा, इस उत्तर की मुझे तलाश है। जनसंचार के माध्यम से छोटी-छोटी बातों पर तो आन्दोलन चलाते हैं, लेकिन इन धर्मगुरुओं तथा सम्प्रदायों की राजनीति और व्यावसायिकता पर चुप रहते हैं। यह बात भी समझी जानी चाहिए। अल्लामा इकबाल के शब्दों में—

वतन की फिक्र कर नादां, मुसीबत आने वाली है।
तेरी बरबादियों के मशविरे हैं, आसमानों में॥

20-2-1986

कसौटी पर चढ़िये

वैसे तो इस देश में अस्सी प्रतिशत आबादी मनुष्य होने की बुनियादी आवश्यकताओं से वंचित है, लेकिन इस असमानता और गरीबी में भी व्यक्ति जीने के लिये क्यों विवश है? इस बात पर इतिहास के झरोखे में देखने पर पता लगता

है कि जन शिक्षा और सामूहिक संघर्ष ने इन अन्यायपूर्ण स्थितियों को हर देश और काल में बदला गया है। पाषाणकाल, कबीला राज, सामन्तवाद और अब पूंजीवाद के चंगुल में फंसा हुआ इंसान, संविधान की प्रति हाथ में लेकर इस बात के लिए संघर्षरत है कि उसे लोकतन्त्र, धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद का वास्तविक जगत मिलना चाहिये।

लेकिन इस सारी बहस में इतने भटकाव और सुख-सुविधाओं के दरवाजे बनते जा रहे हैं कि लोग एकजुट होने की बात तो छोड़िये, अपने दुश्मन तक को पहचानने में असफल नजर आते हैं। परिणामस्वरूप भूखा-नंगा इंसान शोषण करने वाले से लड़ने की बजाय अपने आप से ही लड़ने में अधिक व्यस्त है। धर्म, जाति, भाग्य, परिवार के बंधनों से उसके हाथ-पैर बंधे हैं तथा वह उन पेशेवर राजनेता एवं सुविधाभोगी समाज-सुधारकों के चक्कर में फंस गया है, जो उसे इस्तेमाल करते हैं, लेकिन आगे नहीं बढ़ने देते।

मैं इस बात से वाकिफ हूं कि हम पर कई सौ वर्षों तक विदेशी शक्तियों ने राज किया है, लेकिन मैं उन्हें इस बात के लिए माफ नहीं कर सकता कि उन्होंने हमारे देश को अपने लाभ की मंडी बना दिया तथा यहाँ के इंसान को एक भेड़ की तरह इस्तेमाल किया, जो जीते जी ऊन देती है तथा मरकर भी मांसाहार देती है। हम आज भी किन्हीं हदों तक एक व्यवस्था की भेड़ें हैं तथा हमें मनुष्य होने पर तो गर्व है, लेकिन मनुष्य बनने की सामान्य चिन्ता कतई नहीं है। लोकतन्त्र की चहार-दीवारी में 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' का साम्राज्य है, जहाँ आपका जीना और मरना आपके हाथ में न होकर किसी दूसरे के पास है। जनता की चुनी हुई सरकार है। सरकार की अपनी पुलिस और कचहरी है, दफ्तर और अफसर हैं। जनता जब भी उठना चाहती है, तो उसकी सरकार ही उसे लाठियों से पीटकर जेलों में भर देती है। सब कुछ ऐसा ही चल रहा है कि जनता की जूती और जनता का ही सिर। यह मुहावरा कमोबेशी दुनिया में सभी तरफ चल रहा है। जो सत्ता में होता है, वह सत्य होता है, तथा जो सत्ता में नहीं होता है, वह असत्य होता है। स्वर्गीय गणेश लाल 'व्यास' ने ऐसी ही दारुण कथा के लिये लिखा था—कि 'राज बदल गयो म्हांने कांई। इण दिस सुख री पड़ी न भाई।'

अतः यह एक ऐसी भद्रलोकवादी व्यवस्था है, जो रोज सुबह कबूतरों को दाने डालती है तथा एक तरफ परोपकारी पुण्यात्मा कहलाती है, तो दूसरी तरफ कबूतरों को अपने दानों के इर्दगिर्द भी बांधे रखती है। इस व्यवस्था का जो भी विरोध करता है, तो वह कहीं फिलस्तीनी बन जाता है, कहीं दक्षिण अफ्रीका का नीग्रो बन जाता है, श्रीलंका का अप्रवासी बन जाता है, तो किसी देश में नक्सलवादी-वामपंथी गुरिल्ला आदि, न जाने क्या-क्या बन जाता है।

किन्तु जो कुछ भी है। हमने लोकतन्त्र को स्वीकारा है, तो अब इस ढांचे में ही अपने वर्तमान और भविष्य का रास्ता बनाना होगा और इस रास्ते को बनाने और मंजूर करने का काम यहाँ की जनता ही करेगी। अतः हमारी पूरी रणनीति आमजनता को साथ लेकर चलने की होनी चाहिये। अब जनता को समझा-बुझाकर साथ लायें या डरा धमकाकर साथ लायें—यह दो रास्ते हमारे सामने हैं। मैं इन दो रास्तों में जनता को समझाकर, शिक्षित कर साथ जोड़ने की रणनीति को ही अपना सबकुछ मानता हूं, क्योंकि मुझे जनता मे (जिसमें मैं भी शामिल हूं) अटूट विश्वास है।

जनता को जगाने और समझाने की इस प्रणाली में भी कई प्रकार की घेरे-बंदियाँ हैं, क्योंकि मनुष्य का मनोविज्ञान भी इस प्रक्रिया में बराबर काम करता है। अब जो जनता के मनोविज्ञान को जितना अधिक समझ पाता है, जनता उसी की बांसुरी सबसे अधिक बजाती है। जनता को जगाने के और शिक्षित करने के ही सारे प्रयास किये जाने चाहियें, लेकिन इस काम में भी दो प्रकार के वर्ग सक्रिय हैं। एक वर्ग जनता को धर्म, जाति, संप्रदाय, क्षेत्रीयता और व्यक्तिवाद के नाम पर जगा रहा है, दूसरा वर्ग उसे समाजवाद, लोकतन्त्र और धर्मनिरपेक्षता के नाम पर जगा रहा है। दक्षिणपंथी और राष्ट्रीय वामपथी जैसे दो मोटे वर्ग हैं ये। इस सारी राजनीति में हमारे यहाँ वर्षों तक महात्मा गांधी को एक आधार सूत्र माना गया तथा सभी भली-बुरी जमातों ने गांधी को चोरी छिपे प्रणाम भी किये, लेकिन 21वीं शताब्दी में पहुंचने तक महात्मा गांधी, एक ऐतिहासिक संदर्भ की वस्तु रह जायेंगे तथा यही कुछ स्थिति जवाहर लाल नेहरू की भी होगी। कांग्रेस में भारी उथल-पुथल और बदलाव का वातावरण है तथा जनता की बेहाली का दबाव अब महसूस किया जाने लगा है। जिस तरह भाप का दबाव बढ़ने पर प्रेशर कुकर का 'सेफ्टी-वाल्व' खुलकर सीटी बजाने लगता है, अब ठीक वैसी ही हालत देश में बनती-बढ़ती जा रही है।

इस सम्पूर्ण राजनीति मे सत्ता को ही सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन का मूल बिन्दु हमारे देश के लोग समझते हैं, लेकिन मेरा आज भी मानना है कि हमें न्याय लेना नहीं है, हमें न्याय देना है। सत्ता भी इस प्रक्रिया मे एक माध्यम है तथा अपनी प्रभावशाली भूमिका निभा सकती है, लेकिन परिवर्तन की असली भूमिका तो जनता को ही निभानी होगी। अब यह समझ अस्सी प्रतिशत गरीब और अनपढ़ जनता में कैसे फूंकी जाये, इसका कोई जतन हम सबको करना होगा।

फ्रांस में जो भूमिका ज्यांपाल सार्त्र ने निभाई, सोवियत संघ में जो भूमिका मैक्सिम गोर्की, टाल्सटाय और लेनिन ने निभाई, अमेरिका में जो भूमिका जार्ज वाशिंगटन और लिंकन ने निभाई, तुर्की में जो भूमिका कमालपाशा ने निभाई-

वियतनाम में जो भूमिका हो ची मिन्ह ने निभाई, क्यूबा में जो भूमिका फीदेल कास्त्रो ने निभाई, चीन में जो भूमिका माओ-त्से तुंग ने निभाई, वही भूमिका भारतवर्ष में महात्मा गांधी, नेहरू, लाजपतराय, बालगंगाधर तिलक, गोखले, रानाडे, विवेकानन्द, अबुल कलाम आजाद जैसे लोगों ने निभाई है। इस देश को स्वाधीन राजनैतिक आजादी दिलाने की एक प्रक्रिया पूरी होने के बाद अब हमारे सामने राष्ट्र निर्माण की दूसरी महत्वपूर्ण भूमिका और चुनौती है, जिस पर आज सबके आचरण की परीक्षा होगी।

इस सन्दर्भ में मुझे बड़े दुख से यह कहना पड़ रहा है कि इस देश का अड़तीस वर्ष बाद भी कोई राजनैतिक और वैचारिक दर्शन नहीं बन पाया है तथा सभी राजनैतिक दलों ने जनता को एक के बाद एक धोखे और भुलावे दिये हैं। सभी दलों की राजनीति और कार्यप्रणाली केवल सत्ता हथियाने की जोड़तोड़ से प्रेरित है तथा इनकी आचारसंहिता में जनता केवल एक उपभोग्य सामग्री बनकर रह गयी है। वरना क्या कारण है कि 38 वर्ष की आजादी के बाद भी हम सामाजिक-आर्थिक समानता को प्राप्त नहीं कर सके। आखिर जनता को न्याय दिलाने में कौन बाधक है? इस प्रश्न का उत्तर कोई और भले ही न दे, किन्तु एक लेखक के नाते हमें इन सबके उत्तर तलाशने होंगे। हमें यह समझना होगा कि जो बिड़ला पिलानी से अपना लोटा गिरवी रखकर व्यापार के लिये बंगाल चले गये थे, वे आज अरबपति कैसे बन गये? हमें यह भी समझना होगा कि राजनीति में आकर व्यक्ति रातोंरात मालामाल कैसे हो जाता है। हमें यह भी समझना होगा कि अदालतों में तीस वर्षों तक मुकदमों का फैसला क्यों नहीं हो पाता हमें यह भी समझना होगा कि थानों में बलात्कार क्यों होते हैं। हमें यह भी समझना होगा कि अब देश-भक्तों की जगह भगवान रजनीश, महेश योगी, ब्रह्मकुमारी, जमाते इस्लामी और आनन्दमार्ग, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, जयगुरुदेव, बालटी बाबा और भिण्डरावाले और न जाने कितने तरह के भगवान और जमातें कैसे पैदा हो रही हैं। आखिर इस देश में गांधी, नेहरू, रवीन्द्रनाथ, सुब्रह्मण्य भारती, प्रेमचन्द जैसे लोग अब पैदा क्यों नहीं हो रहे। हम क्यों नहीं मार्क्स तथा ऐंजिल्स पैदा कर सकते? हमारे 75 करोड़ लोगों में रामकृष्ण परमहंस, शंकराचार्य, विवेकानन्द, राजा राममोहन राय अब क्यों नहीं हैं। आखिर किसने हमारी जड़ों में जहर डाल दिया है तथा आखिर वह कौन है, जिसने हमारे मनुष्य होने के अधिकार को हमसे छीन रखा है। इन कुछ सवालों पर सोचने का वक्त, वास्तव में आज किसी के पास नहीं है। सारे दल और जमातें तथा लेखक और विचारक आज बिजली, पानी, मोटरभाड़ा, पेट्रोल, खाद, अनाज, कपड़े तथा महंगाई भत्ते के आंदोलन में जुटे हैं। ये सब ऐसे लोग हैं, जो खुद भी नहीं जानते (जनता को क्या समझायेंगे) कि देश में सामाजिक-आर्थिक समानता की लड़ाई का असली केन्द्र बिन्दु क्या है। अराजकता में अपने-अपने हाथ सेंकने की परिपाटी

पस रही है तथा इस आपाधापी के कारण देश का विचारधारा के आधार पर विकास और निर्माण रुक गया है। यहाँ बुद्धिजीवियों के मानसिक पतन का इस एक बात से ही अंदाजा लगाया जा सकता है कि वह 'विचारधारा' को एक विदेशी प्रणाली समझकर उसे बराबर नकार रहा है। दर्शन के संदर्भ में वह सोचता है, लेकिन दर्शन की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों पर वह विचार करना नहीं चाहता। यही कारण है कि राजनेताओं की तरह, व्यापारियों की तरह यहाँ का लेखक और साहित्यकार भी तात्कालिक सुख-सुविधा में फंस गया है तथा जनता के दुख दर्द से अब उसका वास्ता केवल शब्दों तक सीमित रह गया है। उसे काफी हाउस में, रवीन्द्र मंच पर, राजधानी के बड़े सभागारों में क्रांति का बिगुल बजाना पड रहा है, क्योंकि वह मध्यमवर्ग के समझौतापरस्त जीवन को अपना जीवन बना चुका है। आजादी के बाद मुझे याद नहीं पड़ता कि किसी जन-आंदोलन में किसी लेखक, बुद्धिजीवी अथवा कलाकार ने भाग लिया हो तथा पुलिस की लाठी, गोली खाई हो और जेल गये हों। यहाँ तक कि देश के बड़े से बड़े हादसों पर भी अब लेखकों की चुप्पी एक शर्मनाक विषयवस्तु बन गयी है। हाँ, नागार्जुन, असगर अली इंजीनियर, रामविलास शर्मा जैसे कुछ लेखक अवश्य हैं, जो सीधे किसी जन-आन्दोलन में गये हैं, वरना ज्यादातर लेखक आज की जानकीयात्रा (अज्ञेय) में लगे हैं या फिर उपनिवेश-वादी एवं साम्राज्यवादी बैंक (फोर्ड फाउंडेशन) के पैसों पर पांच सितारा होटलों में जन संघर्ष पर सेमीनार करने में जुटे हैं। इस सारे प्रकरण में वामपंथी लेखकों तथा विचारकों का सबसे बुरा हाल है। आपसी कलह, अहम्, व्यक्तिवाद और वैचारिक भटकाव ने उन्हें इतना दरिद्र बना दिया है कि वे अपने को सर्वहारा का गुरु तो समझते हैं, लेकिन साथी नहीं समझते। विचारहीनता और व्यक्तिवाद के राहु-केतु इनके सिर पर मंडरा रहे हैं तथा चारों तरफ संगठन और मंच बना बनाकर इन्होंने विग्रह और वैचारिक अराजकता के तंबू तान दिये है। दक्षिणपंथी और यथा स्थिति-वादियों के लिये आज सबसे बड़ी संजीवनी प्रगतिशील एवं जनवादी लेखकों की फूट ही है। मुझे आश्चर्य होता है, उस समय जब एक जनवादी, दक्षिणपंथी और साम्प्रदायिक लेखक के साथ तो बैठकर बहस, गपशप करता है, लेकिन प्रगतिशील वामपंथी से तथा साम्प्रदायिकता विरोधी के पास बैठकर बात करने से कतराता है। सत्ता और व्यवस्था को मजबूत बनाने वाले दक्षिणपंथियों से उसकी गहरी छनती भी रहती है। आखिर यह क्या तमाशा है। हमारा मानना है कि यदि प्रगतिशील, समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष ताकतें आपस में ही इसी तरह महाभारत करती रहीं, तो वह दिन दूर नहीं है, जब इस 'यादव वंश' का संपूर्ण विनाश हो जायेगा। इन्हें अधिक नहीं, तो कम से कम न्यूनतम उद्देश्यों पर तो मिलकर साथ काम करना चाहिये। सरकारी अकादमियाँ और सत्ता प्रतिष्ठानों के संस्थान एवं समाचार पत्रों के हाथों में आखिर हम कब तक खिलौने बने रहेंगे? हम विरोध का धोखा शायद जनता को नहीं, अपितु अपने आप को दे रहे हैं। हमें तो आचरण से जोखिम

उठाकर यह सिद्ध करना होगा कि जनता का सम्पूर्ण अभ्युदय ही हमारा उद्देश्य है, न कि नये मंच बनाना-बिगाड़ना और व्यक्तिगत अहम् को शांत करना हमारा लक्ष्य है।

आज वक्त की यह सबसे बड़ी प्रश्नावली हमारे बीच है कि हम क्या करना चाहते हैं ? हम केवल अपने प्रति ईमानदार बनकर—समाज और देश का परिवर्तन नहीं कर सकते। आप लेनिन की टोपी तो पहन सकते हैं, पर आप लेनिन का सा मन और दिमाग कहाँ से लायेंगे ? इसका उत्तर आज की स्थितियों से ही मिलेगा, न कि आपसी फूट और झगड़े से।

6-2-1986

पाठकों की तलाश

पिछले दिनों जयपुर में अखिल भारतीय प्रकाशक संघ का 28वां वार्षिक अधिवेशन हुआ। इस सम्मेलन में एक ही बात मुझे सबसे अच्छी लगी और वह थी संघ के अध्यक्ष अरविंदकुमार (राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली) का मुख्य भाषण। यह वक्तव्य पुस्तक जगत् की वर्तमान स्थिति का एक दृष्टिपत्र है तथा जिस पर मैं अपनी ओर से कोई टिप्पणी करना उचित नहीं मानता।

बम्बई में 28 दिसम्बर, 1985 को कांग्रेस शताब्दी समारोह के महाधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रधानमन्त्री राजीव गांधी ने कहा, 'अनुचित संरक्षण, सामाजिक गैर जिम्मेदारी, लाइसेंस पर निर्भरता और भ्रष्टाचार की बैसाखियों पर खड़े उद्योग ज्यादा दिन नहीं चल सकते।"

निश्चय ही, प्रधानमन्त्री का संकेत बड़े औद्योगिक साम्राज्यों की ओर रहा होगा। पुस्तक व्यवसाय इतना छोटा है कि उद्योगों की गिनती में नहीं आता और उस समय हमारे व्यवसाय की बात उनके मन में नहीं रही होगी। फिर भी, इन शब्दों को सुनकर मुझे लगा कि जैसे वे हमारी ही चर्चा कर रहे हों।

लगभग 30 वर्ष पूर्व जब कुछ प्रमुख प्रकाशकों ने अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ की स्थापना की थी, उस समय स्थिति भिन्न थी। कुछ समर्पित, व्यवसाय के प्रति ईमानदार प्रकाशक—कई नाम मेरे मन में स्पष्ट हैं—[illegible]

सामाजिक उत्तरदायित्व को समझते हुए बड़ी अच्छी पुस्तकें प्रकाशित कर रहे थे। समाज में उनकी इज्जत थी और पाठकों में पुस्तकों की पर्याप्त माँग। उन दिनों भी गोविन्द सिंह, कुशवाहा कांत, प्यारेलाल आवारा, इत्यादि की पुस्तकें बिकती थी, पढ़ी जाती थीं, परन्तु उनसे कहीं अधिक बिकते थे प्रेमचन्द, यशपाल, इलाचन्द्र जोशी तथा भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास, प्रसाद के नाटक तथा निराला की कविताएँ। अभी भी बंगाली उपन्यासों के उन्हीं अनुवादों की माँग है जो प्रेमी जी ने कई वर्ष पहले प्रकाशित किये थे। उन दिनों का हिन्दी साहित्य किसी थोक खरीद के लिए नहीं छापा गया था। क्या हैं वे कारण जिन्होंने हिन्दी प्रकाशन व्यवसाय को आज हताशा-भरे, आपाधापी के माहौल में पहुँचा दिया है? क्या इससे उभर पाना कभी सम्भव होगा?

यह सच है कि पाठ्य पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण ने प्रकाशकों की निश्चित तथा नियमित आय का एकमात्र स्रोत उनसे छीन लिया है। कागज के मूल्य में लगातार, अनाप-शनाप वृद्धि के कारण पुस्तकों के मूल्य भी बढ़े हैं और आम पाठक के लिए अब पुस्तकें खरीद पाना सम्भव नहीं रहा। पुस्तकालयों तथा सरकारी थोक खरीदों पर प्रकाशकों की निर्भरता बढ़ती गयी है और भ्रष्ट अधिकारियों की बन आयी है। पुस्तकों के चयन का आधार अब हो गया है—मेज के नीचे से मिलने वाली राशि।

हमारे कई साथी भटक गये हैं और पैसे देकर पुस्तकें बेचना व्यवसाय का एकमात्र तरीका समझने लगे हैं। बीस पच्चीस प्रतिशत छूट देने के बाद लेखक को रायल्टी देकर पुस्तकें छापने की गुंजाइश नहीं रहती। परिणामस्वरूप हिन्दी में बहुत बड़ी मात्रा में ऐसी पुस्तकें छपने लगी है जिनकी खरीद केवल भ्रष्ट अधिकारियों द्वारा ही की जा सकती है। जब हम अच्छी पुस्तकों की चर्चा करते हैं, भ्रष्टाचार हटाने की बात करते हैं, तो समझा जाता है कि यह कुछ प्रकाशकों को लाभ पहुंचाने की साजिश है। भ्रष्टाचार कम होने से उन प्रकाशकों को लाभ अवश्य होगा जो तमाम कठिनाइयों के बावजूद आज भी अच्छी तथा उपयोगी पुस्तकें छापते हैं।

प्रकाशन एक व्यवसाय है और व्यवसायी को लाभ मिलना ही चाहिए। परन्तु हर व्यवसाय के अपने नियम होते हैं, अपनी नैतिकता होती है। इसके अतिरिक्त, समाज में प्रकाशन व्यवसाय की एक अलग और अत्यन्त अहम् भूमिका है। प्रकाशकों का दायित्व है कि वे ऐसी पुस्तकें छापें जिनकी समाज को आवश्यकता है, जिनका नयी पीढ़ी पर अच्छा प्रभाव पड़े और जो जिम्मेदार नागरिक बनाने में मदद करें।

गलत तरीकों से पुस्तकें बेचने में जितना खर्च होता है, जितना समय लगता है और जितनी मेहनत करनी पड़ती है, उससे कहीं कम खर्च और समय में बेहतर पुस्तकें छापी जा सकती हैं। गलत राह चल रहे अपने साथियों से जिनकी संख्या अधिक नहीं है, मेरी अपील है कि वे पुस्तकें बेचने का 'शार्ट कट' छोड़ दें, ताकि इस व्यवसाय में लगे सभी व्यक्तियों को उनकी मेहनत और उनके प्रयास का समुचित फल मिल सके। यदि दो-चार प्रकाशक पैसे के बल पर बड़े आदेश हथिया लेते हैं तो वे अन्य प्रकाशकों की बहुत बड़ी संख्या का अधिकार मारकर ऐसा करते हैं जो न केवल अनैतिक है, बल्कि जिसे संगठन के स्तर पर स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि प्रकाशक संघ ने पिछले वर्ष पुस्तक खरीदों में भ्रष्टाचार पर रोक लगाने की मुहिम शुरू नहीं की होती, तो ईमानदारी से अच्छी पुस्तकें छापना बिल्कुल असम्भव हो जाता। कुछ प्रकाशक चमकीले, भड़कीले आवरणों में घटिया, बाजारू किताबें छापकर इस स्थिति का लाभ उठा रहे हैं। हिन्दी की इन 'पॉकेट बुक्स' में होड़ है—कम से कम मूल्य पर अधिक से अधिक सस्ती सामग्री देने की। लेखन, सम्पादन तथा प्रूफ रीडिंग आदि पर शायद ही कुछ खर्च होता हो, परन्तु इन पुस्तकों के उत्तेजक कवर बम्बई में छपते हैं। हिन्दी की 'पॉकेट बुक्स' तथा उनके लेखकों का अपना अलग संसार है। 'पॉकेट बुक्स' के लेखक पक्की जिल्द में नहीं छपते और हिन्दी के जाने-माने लेखकों की पुस्तकें 'पॉकेट बुक्स' में नहीं आतीं।

पुस्तकें पढ़ने की रुचि का विकास भी इन 'पॉकेट बुक्स' के द्वारा नहीं हुआ। उत्तर भारत में पुस्तकों के प्रति अरुचि के लिए ये फूहड़ 'पॉकेट बुक्स' भी उतनी ही जिम्मेदार हैं, जितनी हिन्दी फिल्म तथा टेलीविजन के अधिकांश कार्यक्रम। यह एक कटु सत्य है कि आजादी के बाद लगभग 40 वर्षों में हमने हिन्दी भाषी राज्यों में एक पुस्तकविहीन समाज की स्थापना कर दी है। महत्वपूर्ण पुस्तकें छपती हैं, परन्तु उनकी कहीं चर्चा तक नहीं होती। हजार, दो हजार प्रतियों का संस्करण बिकने में कई वर्ष लग जाते हैं। पुस्तक पर प्रकाशक की लागत अटकी रहती है और लेखक को पर्याप्त रायल्टी नहीं मिल पाती। फिल्म और टेलीविजन में अभिनय करने वाले, राजनीतिज्ञ तथा खिलाड़ी आज के सितारे हैं, परन्तु लेखक को कोई नहीं पहचानता। विदेशी पुस्तकें हाथ में रखना और विदेशी लेखकों के नाम लेना, सभ्यता का प्रतीक माना जाता है—भारतीय भाषाओं के लेखकों तथा उनकी रचनाओं की चर्चा करना हीनता का। यहाँ तक कि हिन्दी-भाषी राज्यों के तीन-चौथाई पुस्तक विक्रेता हिन्दी की पुस्तकें बेचते ही नहीं। उनकी दुकानें विदेशी पुस्तकों से भरी रहती हैं।

देश में विदेशी पुस्तकों की बाढ़ का कारण है—आयात नीति में दुरुपयोग की काफी गुंजाइश। "ओपन जनरल लाइसेंस" के अन्तर्गत शिक्षा, विज्ञान तथा

तकनीकी विषयों की पुस्तकों के आयात पर छूट है। इन पुस्तकों की आवश्यकता हम समझते हैं परन्तु इनकी आड़ में ऐसी बहुत-सी पुस्तकें मंगवायी जा रही हैं, जो न केवल अनावश्यक हैं, कई दृष्टियों से आपत्तिजनक भी हैं। सिलाई, कढ़ाई तथा फैशन की विदेशी पुस्तकों के बिना हमारे विद्यार्थी काम चला सकते हैं। फोटोग्राफी एक कला है—इसकी नयी तकनीकों नये आविष्कारों से सम्बन्धित पुस्तकें उपयोगी हो सकती हैं, परन्तु फोटोग्राफी की अधिकांश आयातित पुस्तक नंगी तस्वीरें छापने का बहाना मात्र है। "ओपन जनरल लाइसेंस" के अन्तर्गत मंगवायी ये पुस्तकें छोटे से छोटे शहरों और कस्बों में देखी जा सकती हैं। शिक्षा, विज्ञान तथा तकनीक के नाम पर भी अधिकतर इन विषयों की पुरानी पुस्तकों का आयात हो रहा है जो 90-95 प्रतिशत छूट पर मिल जाती हैं। प्रति आयातकर्ता, प्रतिवर्ष पुस्तक की 1000 प्रतियाँ मंगवाने की सीमा का भी कोई मतलब नहीं है, क्योंकि बड़े आयातकर्ता कई नामों का प्रयोग करके अधिक प्रतियां मंगवा लेते हैं।

भारतीय भाषाओं की पुस्तकों के प्रति अरुचि के लिए हमारी शिक्षा प्रणाली भी कम जिम्मेदार नहीं है, क्योंकि बच्चों में पढ़ने की आदत विकसित करने के लिए कुछ भी नहीं किया जाता। अधिकांश स्कूलों में बच्चे अपनी पाठ्य पुस्तकों के अलावा किसी पुस्तक के सम्पर्क में नहीं आते। शिक्षा से सम्बन्धित एक रिपोर्ट में लिखा है कि "सभी विद्यार्थियों के लिए, जिनमें बहुत सीमित क्षमता वाले विद्यार्थी भी शामिल हैं, महान् साहित्य के सम्पर्क में आना जरूरी है और वे सभी महान् साहित्य में निहित विश्व-दृष्टि से प्रभाव ग्रहण करने की क्षमता रखते हैं।" प्रत्येक स्कूल में एक अच्छा पुस्तकालय होना चाहिए और बच्चों को पुस्तकें पढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

पाठकों को अच्छी पुस्तकें उचित मूल्य में उपलब्ध करवाने के प्रयास में कागज के मूल्यों में वृद्धि सबसे बड़ी बाधा है। पिछले पन्द्रह वर्षों में कागज का मूल्य लगभग सात गुना बढ़ा है। कागज मिलें तथा व्यापारी अकारण मूल्य बढ़ाते जाने के आदी हो गये हैं और उन्हें अनुशासित करने के लिए शीघ्र सख्त कदम उठाने की आवश्यकता है। आज भी अन्य देशों में भारत की तुलना में बेहतर कागज बहुत सस्ते दामों पर उपलब्ध होता है। कागज के आयात पर से रोक हटाकर मूल्यों में स्थिरता लायी जा सकती है। यदि कागज का खुला आयात उचित न समझा जाये तो उन विषयों की पुस्तकों के लिए, जिनके आयात पर रोक नहीं है, कागज के आयात की अनुमति दी जा सकती है।

यह आम शिकायत है कि हिन्दी में विभिन्न विषयों की, विभिन्न स्तरों की पुस्तकों की बहुत कमी है। इस कमी को पूरा करने की आवश्यकता को समझते हुए भी ऐसी पुस्तकों की बिक्री कम होने के कारण अथवा अपनी आर्थिक सीमाओं के कारण प्रकाशक उनका प्रकाशन नहीं कर पाते। सामान्य ज्ञान की पुस्तकों के प्रकाशन

को प्रोत्साहन देने के लिए केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की एक बहुत अच्छी योजना थी, जिसके अन्तर्गत कई ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन हुआ जो अन्यथा न छप पातीं, परन्तु न जाने क्यों इस वर्ष वह योजना रद्द कर दी गयी।

प्रकाशकों और पुस्तक विक्रेताओं की बहुत-सी समस्याएँ हैं। लेखकों की भी शिकायतें हैं। इन पर गंभीरता से विचार करने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूं कि समस्या मुख्यतः बिक्री की है। यदि अच्छी पुस्तकों की बिक्री की व्यवस्था हो जाय तो अधिकांश समस्याएँ काफी हद तक स्वयं दूर हो जायेंगी। हिन्दी भाषी राज्यों के तीन-चौथाई पुस्तक विक्रेता हिन्दी की पुस्तकें नहीं बेचते। रेलवे स्टेशनों तथा बस अड्डों पर एक दो विक्रेताओं का एकाधिकार है—वे एक खास किस्म की पुस्तकें रखना ही पसन्द करते हैं। उनके द्वारा निर्धारित कमीशन तथा बिक्री की शर्तें भी सभी प्रकाशकों को स्वीकार नहीं होतीं। कई बार लगता है कि ये पुस्तक विक्रेता, पुस्तक की बिक्री में सहायक न होकर बाधक ही सिद्ध हो रहे हैं। इस परिप्रेक्ष्य में पुस्तकों के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए प्रकाशकों के सहकारी प्रयास की आवश्यकता महसूस होती है। इस योजना पर गंभीरता से विचार चल रहा है और आशा है कि इस वर्ष के दौरान यह निश्चित रूप ले लेगी। सहकारी समिति देशभर में रेलवे स्टेशनों तथा बस अड्डों पर स्टाल लगायेगी, पुस्तक बिक्री केन्द्र खोलेगी, पुस्तक मेलों का आयोजन करेगी तथा "बुक क्लब" चलायेगी। पाठकों को सस्ते मूल्य पर पुस्तकें उपलब्ध कराने की दिशा में यह महत्वपूर्ण योगदान होगा। इससे प्रकाशकों को बिक्री का नया स्रोत मिलेगा और सरकारी खरीद पर उनकी निर्भरता कम होगी।

अन्त में, मैं 1982 की यूनेस्को-विश्व-कांग्रेस में स्वीकृत लंदन-घोषणापत्र "पढ़ने वाले समाज की ओर" को दोहराना चाहता हूं--'हमें एक ऐसी दुनिया की तलाश है जहां सभी लोगों को अधिक से अधिक पुस्तकें आसानी से सुलभ हो सकें जहां सिर्फ पढ़ने की योग्यता ही काफी न हो बल्कि हर वर्ग के लोगों में पढ़ने की इच्छा और संकल्प, पढ़ने के आनन्द और उपयोगिता को व्यापक प्रोत्साहन भी मिले। कहीं अर्थों में हमें ऐसी दुनिया की तलाश है जहां सबके लिए पुस्तकें तो उपलब्ध हों ही, साथ ही सब लोगों में पढ़ने की ललक हो और पुस्तक पढ़ना उनकी रोजमर्रा की जिन्दगी का अनिवार्य हिस्सा बन जाये। हमारी आकांक्षा सिर्फ एक साक्षर दुनिया तक ही सीमित नहीं है। हम तो ऐसी दुनिया चाहते हैं जहां जन-जन में पढ़ने का भरपूर उत्साह हो।'

23-1-1986

अधूरी बहस

मैं अपनी बात प्रारम्भ करने से पहले भारत के मुख्य न्यायाधीश पी. एन. भगवती और उनके हमख्याल न्यायाधीशों तथा न्यायिक अधिकारियों को इस बात के लिए मुबारकबाद देना चाहता हूँ कि ये सब मिलकर न्याय-दर्शन और न्याय-प्रणाली में सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए खुले शब्दों में एक विचार आन्दोलन को जन्म दे रहे हैं। न्याय प्रणाली की प्रासंगिकता पर यह बहस न तो राजनेताओं ने छेड़ी है, न ही सामाजिक कार्यकर्ताओं ने और न ही पेशेवर विचारकों ने छेड़ी है जो सामाजिक परिवर्तन के लिए सुबह से शाम तक मगरमच्छ के आंसू बहाते रहते हैं।

भारत की न्याय प्रणाली और न्याय दर्शन दूसरों पर राज करने वाले अंग्रेजों की 200 वर्ष पुरानी आवश्यकता का ही एक विकसित रूप है। आजादी के 38 वर्ष बाद भारतीय न्याय प्रणाली की यह शव-परीक्षा बहुत सुखद और रोमांचक है। देश में आज जब सभी तरफ सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक समानता के लिए लम्बी-लम्बी योजनाएँ और फतवे दिये जा रहे हैं, तब उस बीच में न्याय की अवधारणा को बदलने का परिसंवाद एक आवश्यक और साहसिक कदम माना जायेगा। क्योंकि अब यह तेजी से महसूस किया जाने लगा है कि भारतीय न्याय प्रणाली इतनी पिछड़ी, उपनिवेशवादी और जन-विरोधी हो गयी है कि उसकी पहचान और प्रतिष्ठा दोनों ही खतरे मे हैं। सुप्रीम कोर्ट में बकाया कोई डेढ़ लाख मुकदमे, उच्च न्यायालयों में बकाया कोई 15 लाख मुकदमे और अधीनस्थ कचहरियों में बकाया कोई सवा करोड़ मुकदमे इस बात का सबूत है कि हमारी वर्तमान न्याय व्यवस्था आम जनता को समय पर सस्ता न्याय देने में पूरी तरह अक्षम है। पी. एन. भगवती बार-बार कह रहे हैं कि न्याय करने की मशीनी प्रणाली समाप्त की जाये, तथा कानून की परिभाषा को समाज और देश के भावी निर्माण की नजर से प्रस्तुत किया जाये।

आज अदालतों को लेकर जो सामाजिक छवि बनती जा रही है, उससे लगता है कि लोकतन्त्र का यह तीसरा स्तम्भ कितना जर्जर हो चुका है कि लोग अदालतों में जीवनभर एड़ियाँ रगड़ने से अन्याय को सहन करना अधिक पसन्द करते हैं। पुलिस और अदालत का आचरण आज खुद जनता की कचहरी में गुनाहगार की तरह खड़ा है। इसका लम्बा इतिहास है तथा हमारे देश की पूरी शासन प्रणाली किसी हद तक इन स्थितियों के लिए दोषी है। अब न्यायाधीश खुद इस बात को कहने लगे हैं कि न्याय व्यवस्था को दलालों से, राजकीय दबावों से, अमीरों के (घ) से तथा वकीलों के व्यापारीकरण से बचाओ। 25–30 वर्ष तक मुकदमों

...फैसला न होना तो एक सामान्य बात है। हजारों लोग गुनाहगार साबित होने ... पहले वर्षों तक जेलों में सड़ते रहते हैं, जेलों में उनके साथ क्या आचरण होता है ...सका एकमात्र उदाहरण भागलपुर (बिहार) की जेल में आँख फोड़ो काण्ड से ...समझा जा सकता है। अब जनता में यह धारणा आम है कि जिसके बुरे दिन आते ..., वही कोर्ट और कचहरियों में जाता है।

भारत की वर्तमान शासन प्रणाली का सबसे पहला और मुख्य आधार अब ... छोटी अदालतें हैं, जहाँ न्याय मिलता नहीं है अपितु खरीदा जाता है। मजिस्ट्रेटों ...ी नियुक्तियों के भाव बँधे हुए हैं तथा पेशी की तारीख डलवाने से लेकर फैसले की ...नकल तक लेने के लिए जनता को चन्दा-पानी देना पड़ता है। वकीलों को इस ...ात से महत्वपूर्ण माना जाता है कि वे गुनाहगार को बेगुनाह साबित करवा दें, ...त्यारे की जमानत करवा दें, मुकदमे को वर्षों तक लटकवादें, या फिर किसी ...याचिका को सुनवाई के लिए स्वीकृत करवादें। एक छोटा-सा सुपरिचित कमाल हम ...प्राये दिन अदालतों में देखते हैं कि अनेक वकील इस बात का इन्तजार करते रहते ...ैं कि अमुक न्यायाधीश जिस दिन रिट एडमिशन के लिए होगा तभी वे रिट याचिका प्रस्तुत करेंगे। यह पूरी मानसिकता न्याय के लिए नहीं अपितु व्यापार के लिए है तथा राजनीति और प्रशासन की तरह न्यायपालिका भी आज बहुत हद तक कानूनी ...खामियों के कारण एक निहित स्वार्थ वाले वर्ग के चंगुल में फँस गई है। पिछले दिनों जयपुर के एक वकील की तथाकथित हत्या, राजस्व मण्डल में नियुक्ति की उसकी जोड़-तोड़, हत्या को लेकर वकीलों का आन्दोलन तथा उच्च न्यायालय में अभियुक्त की जमानत अर्जी पर किसी वकील को पैरवी करने से रोकना और न्यायाधीश को कोर्टरूम में वकीलों की भीड़ द्वारा ही गालियाँ देना इस स्थिति का प्रमाण है कि हमारा लोकतन्त्र और उसकी आत्मा न्यायपालिका अन्याय और भ्रष्टाचार के कैंसर से मरणासन्न हो रही है। हम यह नहीं कहते कि सभी चोर और नासमझ हैं लेकिन यह भी लोक सत्य है कि न्याय के दरवाजे पैसे वालों के लिए है तथा पैसा हो तो सब कुछ किया जा सकता है।

वस्तुतः न्यायपालिका की गिरावट हमारे पूरे सामाजिक ढाँचे की असफलता का परिणाम है। न्यायाधीश और वकील भी इसी समाज की उपज हैं तथा ऐसे बहुत कम लोग होते हैं जो ईमानदार, साहसी और त्यागी बनकर—धारा के विरुद्ध चल सकें। न्यायमूर्ति वी. के. कृष्ण अय्यर, न्यायमूर्ति डी. ए. देसाई, न्यायमूर्ति चिनप्पा रेड्डी जैसे लोग न्यायपालिका में आज बहुत कम हैं जो न्याय को सामाजिक, आर्थिक उद्देश्य और परिवर्तन का हथियार मानते हों। अभी भी न्यायाधीशों की बहुत बड़ी जमात इस बात की वकालत करती है कि न्याय अंधा होता है (क्योंकि अन्धे के लिए सब बराबर माने जाते हैं) तथा न्याय की जानकारी नहीं रखने वाले को माफ नहीं किया जा सकता। प्यारे भाइयो ! जिस देश पर हजारों वर्ष तक

न्यायमूर्ति भगवती को मैंने कई बार जनता के बीच बोलते सुना है। उनसे लगता है कि इस व्यक्ति के पास ऐसा दिल है जो दूसरों के दिल की धड़कन को भी सुनता है तथा ऐसा सोच भरा दिमाग है जो दूसरों की दुनिया को भी देखता और सुनता है। अभी पिछले दिनों जयपुर के एक समारोह में उन्होंने साफ-साफ कहा कि यदि हम गरीब समाज को न्याय नहीं दे पायेंगे तो इतिहास हमें माफ नहीं करेगा तथा संविधान की जड़ सूख जायेगी। वो जमाने गये, जब न्याय का इंग्लैंड से आयात होता था, वो समय नहीं रहा जब न्याय राजा की सम्पत्ति थी तथा अब वो वक्त नहीं रहा जब न्याय की कुर्सी पर केवल अंधे और बहरे लोगों का दखल था। भगवती ने कहा कि हमें सड़े-गले विदेशी जमाने के कानूनों को बदलना होगा, हमें प्रचलित कानूनों की समाज प्रेरित व्याख्या करनी होगी तथा हमें आत्मालोचन करना होगा कि हम आम जनता के प्रति कितने संवेदनशील हैं। इन्हीं जलसों में केन्द्रीय विधि राज्य मन्त्री हंसराज भारद्वाज ने बताया कि आज की न्याय प्रणाली अमानवीय है। आई. ए. एस. और आई. पी. एस. अधिकारी न्यायिक अधिकारियों को छोटा समझकर अपमानित करते हैं तथा जिला सत्र न्यायाधीश तक के पास आवास, दफ्तर, मोटरगाड़ी और समान वेतन प्रणाली का अभाव है। उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि अब तो न्यायपालिका के सम्मान और अधिकार के लिए भी हमें कहीं कोई रिट याचिका दायर करनी पड़ेगी। और यही मेरी धारणा इन सबसे मिलती है कि आखिरकार यह अदालतें जनता के लिए हैं तथा जनता अदालतों के लिए नहीं बनी है।

लेकिन वर्तमान न्याय प्रणाली पर जारी बहस कई मायनों में अभी भी अधूरी है। हम सामाजिक न्याय की बात तो ठीक कर रहे हैं लेकिन हमें यह भी कहना पड़ेगा कि न्याय के लिए बने अठारहवी शताब्दी के कानूनों को बदला जाये, न्यायाधीशो के चयन को कठोर और निष्पक्ष बनाया जाये तथा मुकदमो का फैसला वकील की शक्ल और अक्ल देखकर नहीं किया जाये अपितु उस मामले की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक पृष्ठभूमि और आवश्यकताओ के आधार पर किया जाये। यह हमारा भ्रम है कि अदालतो मे बकाया मुकदमों की भारी गिनती को साफ कर देने से ही सबको न्याय मिल सकेगा। वस्तुतः मुकदमों की भीड़ और

न्याय दोनों अलग-अलग चीजें है। आप 75 करोड़ मुकदमे भी यदि सुलझा देंगे और अदालतों में एक भी बकाया मुकदमा नहीं रहेगा, तब भी न्याय के प्रति आम जनता का आदर बनेगा इसकी गारण्टी आप केवल सामाजिक-आर्थिक दर्शन को समझकर दिये गये फैसलो से ही कर सकेंगे। आज देश मे कोई 2 लाख वकील हैं तथा न्याय-व्यवस्था भी एक उद्योग बन गई है। यह भीड कभी नही चाहेगी कि देश मे सभी को समान और जल्दी न्याय मिले। यथास्थिति बनाये रखना किसी भी पूँजीवादी और उपनिवेशवादी वर्ग का पहला हथकण्डा होता है, अतः न्याय का सामाजीकरण, समाजवादीकरण ये वर्ग कभी नही होने देगा। देश की स्थितियाँ (सभी तरह) कुल मिलाकर इनके विपरीत है क्योकि सामाजिक न्याय की लड़ाई—केवल न्यायपालिका मे ही नही उठ रही है अपितु यह राजनीति, प्रशासन, पत्रकारिता, उद्योग और खेत-खलिहानो मे भी पहुच चुकी है। ऐसी हालत मे देश का साधनसम्पन्न और अमीर वर्ग निरन्तर सगठित होकर इस बात का प्रयास कर रहा है कि भारतीय समाज को किसी भी कीमत पर उपभोक्ता मण्डी बनाकर रखा जाये। ताकि न्याय को गद्दारी जा सके, सरकार को गुलाम बनाया जा सके तथा अभिव्यक्ति के माध्यमो को धर्म, जाति, क्षेत्रीयता और भाग्यवाद के नाम पर इस्तेमाल किया जा सके।

इस अराजकता मे 'लोक अदालत' का विचार एक छोटा और पहला सुधारपरक कदम माना जा सकता है। लेकिन यहाँ भी सवाल उठता है कि हम किस कानून से, किस न्यायाधीश से, किस सामाजिक दर्शन और व्यवस्था से यह न्याय गरीबों को देने जा रहे है ? न्यायमूर्ति भगवती के इरादे बहुत नेक हो सकते हैं लेकिन हमारे देश की न्याय व्यवस्था के इरादे तो आज भी 15वी शताब्दी के मध्ययुगीन इरादे है जिसके कारण अब न्याय के पूरे दर्शन को बदलने की आवश्यकता जनता में महसूस की जा रही है।

लोकतन्त्र मे न्यायपालिका को भी एक अधीनस्थ प्रणाली के रूप मे ही विकसित किया जा रहा है। न्यायाधीशो की नियुक्ति कुल मिलाकर सरकार करती है तथा यही कारण है कि सारी उम्र तीसरी श्रेणी के नेताओ को मालाएँ पहनाने वाले, अभिनन्दन करने वाले, पार्टी मीटिंग मे दरियाँ बिछाने वाले लोग रातोरात उच्च न्यायालय के न्यायाधीश बन जाते है। आप इन जी-हुजूरो से आम जनता के लिए न्याय की क्या उम्मीद कर सकते है ? जो न्यायाधीश मुनियों, सन्तों और मौलवियो की परिक्रमा करते रहते है उनसे आप किस न्याय की आशा रख सकते है ? जो न्यायाधीश अपने बेटों-भतीजों और भाइयो को बड़े-बड़े उद्योगपतियों और राजनेताओ का वकील तथा सलाहकार बनाना चाहते है, भला उनसे आप किस न्याय की उम्मीद किये बैठे है ? जो न्यायाधीश मच पर मन्त्रियो के गुणगान करते है, जो न्यायाधीश मुख्यमन्त्री अथवा राज्य एव केन्द्रीय मन्त्रियो से मिलने को

लालायित रहते हैं भला उनसे हमें क्या न्याय मिल सकेगा तथा उन न्यायाधीशों से भी हमें क्या न्याय मिलेगा जो प्रचार-प्रसार की भूख में अखबारवालों को याद करते रहते हैं। हम वकीलों के गोरखधन्धे को इतना दोष नहीं देते क्योंकि जब दूल्हे के मुँह में ही पानी आ रहा हो तो बरातियों की हालत तो खराब होनी ही है। वरना क्या मजाल जो—वकील, काला कोट पहनकर अदालत को सिर पर उठालें। अतः यही कहूँगा कि—खुद को कर बुलन्द इतना, कि हर तदबीर से पहले/खुदा बन्दे से ये पूछे, बता तेरी रजा क्या है ? भला आई.ए.एस. और आई.पी.एस. की क्या बिसात है जो न्यायाधीशों को अपमानित कर सके। न्यायाधीश अपने मन, वचन और कर्म से गरीब जनता को साफ-साफ न्याय तो दें। जनता के समर्थन से ही न्याय की रक्षा होगी और होती आई है।

मैं खुद भी मुवक्किल रहा हूं तथा हर इन्सान की तरह मेरे भीतर भी गलत और सही का निर्णय करने वाला विवेक है। भले ही मनोनीत न्यायाधीश नहीं हूं, लेकिन मैं एक मनुष्य के नाते समाज में, घर में, राष्ट्र के संदर्भ में न्याय की भूमिका निभाता हूं। अतः यह निवेदन उन पेशेवर वकीलों और न्यायाधीशों से तो कर ही सकता हू कि कृपया समय की दीवारों पर लिखे अक्षरों को पढ़ें तथा सामाजिक अन्याय को तो मजबूत न बनायें। यह निर्भीकता, ईमानदारी और आचरण की पवित्रता उन्हें किसी संविधान, अधिनियम और सरकारी कृपा से नहीं मिलेगी अपितु अपने भीतर से ही मिलेगी। सरकार न्यायाधीश की तनखा तो बढ़ा सकती है लेकिन ईमानदारी नही बढा सकती, उद्योगपति किसी वकील की गरीबी तो मिटा सकता है लेकिन उसे ईमानदार नहीं बना सकता। क्योंकि संविधान में समाजवाद, लोकतन्त्र और धर्मनिरपेक्षता को स्पष्ट मान्यता देने के बावजूद यदि हम इनकी भावना को विकसित और परिपक्व नहीं बना सकें तो यह दोष किसका है ?

न्यायपालिका को विधायिका और कार्यपालिका के काम मे हस्तक्षेप नही करना चाहिये यह मान्यता भी असमानता वाले समाज में गलत है तथा चालाकी से भरी है। न्यायपालिका की पहुंच उन सभी जगहों पर होनी चाहिये जहां से मनुष्य और समाज का न्याय और अन्याय जुड़ा हुआ है। न्यायपालिका समन्वय की दृष्टि से भले ही शांत रहे लेकिन जब कोई मामला विधायिका और कार्यपालिका की गलत नीतियों से जनविरोध में बनता है तो उसे साहस से बोलना चाहिये और फैसला भी करना चाहिये। ऐसे नाजुक वक्त पर न्यायपालिका अपने अल्फाजों को निगलने से बचे यही उसकी श्रेष्ठता और आवश्यकता है किसी लोकतन्त्र में!

हमें यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि आपसे न्याय प्राप्त करने के लिए आया व्यक्ति आपको 'भगवान्' मानता है। उसकी आंख के आंसू, पेट की भूख और बच्चों का भविष्य सब कुछ आप पर निर्भर करता है। यदि आप इस एक महत्वपूर्ण

स्वयं ही 'अन्यायमूर्ति' बन जायेंगे तो वह घटना कितनी दुर्भाग्यपूर्ण होगी । असमानता के और शोषण के जगत में न्यायपालिका ही एक सहारा और साहस है, अतः न्याय का क्या वह दर्शन आप ही तो लिखेंगे जिसके आधार पर यह भावी समाज बनेगा ।

न्याय की अवधारणा सृष्टि पर मनुष्य के सम्मान और समानता से जीवित रहने के अधिकार से जुड़ा हुआ प्रश्न है । इसे हम मुकदमों की बढ़ती गिनती को घटाकर ही नहीं बनाये रख सकते । हाँ ! यह तो एक तात्कालिक चिन्ता है न्याय प्रशासन की । हम उन सबको अपना समर्थन देते हुए कहना चाहेंगे कि आप सबसे पहले न्याय के मन्दिरों को पवित्र करें, न्याय की गंगा को प्रदूषण से बचायें क्योंकि यदि समाज को न्याय दिलाने में शासन और प्रशासन असफलता दिखाता है तो न्यायपीठ को इस काम में उसकी मदद करनी चाहिए ।

भारतीय साहित्य न्याय की भूमिका का ही साहित्य है । हर उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक, विचार का जन्म सामाजिक न्याय के लिए ही होता है क्योंकि लेखक भी समाज का अघोषित वकील और न्यायाधीश होता है । अतः यह न्याय की चिन्ता न्यायालयों की ही नहीं अपितु लेखकों और समाज के उन सभी लोगों की चिन्ता है जो अपने जीवन और जगत् में समान अधिकार और कर्त्तव्य चाहते हैं । दुष्यन्तकुमार के शब्दों में—सिर्फ हंगामा खड़ा करना, मेरा मकसद नहीं/ मेरी कोशिश है कि ये सूरत बदलनी चाहिए ।

16-1-1986

विचाराधीन

इन दिनों देश में आठवीं लोकसभा के चुनाव का माहौल है । एक नागरिक के नाते लेखक भी इस प्रक्रिया से तटस्थ अथवा अलग नहीं रह सकता । जो लोग यह सोचते हैं कि साहित्य का देश की राजनीति और भविष्य से सम्बन्ध नहीं है, उन्हें मैं बीसवीं शताब्दी का सबसे बड़ा गैर जिम्मेदार व्यक्ति समझता हूं ।

चुनाव के इस प्रकरण में राजस्थान से कोई लेखक तो किसी पार्टी का उम्मीदवार नहीं है लेकिन अनेक लेखकों की अपनी-अपनी राजनैतिक आस्थाएं हैं । इससे पहले एक बार रेवतदान चारण जोधपुर से, किशोर कल्पनाकांत चूरू से तथा

प्रकाश आतुर (कांग्रेस इ) उदयपुर से चुनाव में खड़े हुये थे लेकिन यह सभी हार गये। किन्तु किसी व्यक्ति की हार के साथ भाषा, साहित्य एवं संस्कृति का संघर्ष एवं विकास समाप्त नहीं हो जाता।

यह प्रश्न राजस्थानी भाषा के सम्बन्ध में हर चुनाव के समय हमारे सामने आता है कि भाषा का मतदाताओं से कितना गहरा संबंध है। वर्तमान लोकसभा चुनावों में भी अधिकांश उम्मीदवार प्रांत में अपना चुनावी भाषण राजस्थानी में ही दे रहे हैं तथा सर्वेक्षण बताता है कि जहां-जहां उम्मीदवारों ने राजस्थानी भाषा में मतदाताओं को संबोधित किया है, वहां-वहां लोगों ने उनसे एक आत्मीयता महसूस की है तथा उनके पक्ष को ज्यादा अच्छी तरह समझा है।

राजस्थान में केवल 24 प्रतिशत लोग अक्षरज्ञान रखते हैं तथा अंग्रेजी और हिन्दी उनके लिये एक अन्दाज से समझ में आने वाली भाषा है। बात के मर्म को तथा गहराई को समझने के लिये आज उन्हें राजस्थानी भाषा पर ही विश्वास बनता है भले ही राजस्थानी को संविधान की आठवीं सूची में मान्यता नहीं मिली हो लेकिन उसे प्रांत की जनता का सम्मान और मान्यता निसंदेह प्राप्त है।

आज किसी भी प्रदेश या क्षेत्र में आप चले जायें तो आप देखेंगे कि आम जनता से उसका नेता या शुभचिंतक उसकी स्थानीय भाषा में ही बोलता है तथा तालमेल स्थापित करता है। अधिकांश जन अपनी मातृभाषा में ही डाक्टर से अपनी बीमारी और इलाज की चर्चा करता है, वह अपनी मातृभाषा में ही अपने वकील से अपना दुःख-दर्द कहता है तथा बच्चा अपने घर में, अपने परिवार में, अपनी मातृभाषा में ही बोलता है। जन्म, विवाह, मृत्यु जैसे सभी सामाजिक अवसरों पर आज भी हम देवी-देवताओं को मनाते हैं। हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने के बावजूद भी इसका दैनिक जीवन और सामाजिक संस्कृति से एक सीमित सम्बन्ध ही है। आप हमें बता दीजिये कि देश के किस क्षेत्र में आज ब्याव-शादी जन्म-मरण अथवा संस्कार के गीत हिन्दी या अंग्रेजी में गाये जाते हैं।

राष्ट्रभाषा की आवश्यकता या सम्पर्क भाषा का अपना एक अलग महत्व है तथा जिस देश में अनेक भाषाएँ और बोलियां हों वहां एक सर्वमान्य और सबके विचार-विमर्श के लिये राष्ट्रभाषा की आवश्यकता से कभी इन्कार नहीं किया जा सकता। लेकिन शताब्दियों का जीवन दर्शन व्यक्ति की मातृभाषा को उनसे अलग नहीं कर पाया है। जिस तरह राजनीति, धर्म या साहित्य से अलग नहीं हो पाती, उसी तरह मातृभाषा भी व्यक्ति के जीवन से अलग नहीं रखी जा सकती। किसी भाषा का संविधान में जुड़ना एक अलग तकनीकी और सामयिक राजनीति का ..ला है लेकिन मातृभाषा की हमारे जीवन में एक अनिवार्य आवश्यकता है। कुछ लोग—धर्म की तरह, भाषा को भी अलगाव और विघटन का कारण मान लेते हैं

लेकिन व्यावहारिक और वैज्ञानिक रूप मे यह धारणा गलत है। क्योंकि धर्म को जब-जब सत्ता, सरकार और प्रभुत्व के लिये इस्तेमाल किया गया, उसने हमारे संविधान की मान्यताओं को कमजोर बनाया है तथा धर्मयुद्ध को सत्तायुद्ध में परिवर्तित कर दिया है। पंजाब का अकाली आन्दोलन इसका एक ताजा उदाहरण है। लेकिन भाषा ने कभी कुर्सी की लड़ाई नहीं लड़ी है तथा वह विशुद्ध रूप मे अपनी अभिव्यक्ति का सशक्त आधार मात्र है।

देश मे जब एक बार भाषाओं के आधार पर राज्यों का निर्माण कर दिया गया तथा कुछ भाषाओं को संविधान की आठवी सूची में जोड दिया तो उन सभी समृद्ध भाषाओं का अधिकार मांगना सर्वथा उचित होगा जो अपना समृद्ध साहित्य और जीवनधारा रखती हैं। लेकिन भाषाओं के इस सामाजिक न्याय मागने पर निश्चय ही अनेक क्षेत्र और व्यक्तियों की सत्तावादी राजनीति पर विपरीत असर पड़ता है तथा इसीलिये वे सब मिलकर यह प्रचार करते हैं कि धर्म, भाषा और जाति के नाम पर देश को विघटन से बचायें। लेकिन मेरी विनम्र समझ कहती है कि धर्म और जाति के प्रमाणित विषधर के साथ भाषा को जोडना एक भूल है तथा सोची-समझी राजनीति है। धर्म व्यक्तिगत आस्था का विषय है जबकि भाषा हमारी सामाजिक एवं सांस्कृतिक आस्था और समृद्धि का विषय है। अतः भाषा के प्रश्न को धर्म और जाति की सकीर्णतावादी राजनीति से अलग माना जाना चाहिए। कोई मतदाता धर्म और जाति के नाम पर अपना वोट किसे दे, इसका निर्णय तो उसे संकीर्णता से अवश्य जोडता है लेकिन सभी उम्मीदवार यदि मतदाता से उसकी मातृभाषा मे सही मतदान करने के लिये कहे तो कहीं कोई विघटन और अलगाव पैदा नहीं होता।

सोवियत संघ मे सर्वाधिक क्षेत्रीय भाषाएं और बोलियां है लेकिन वहा भाषा को जोड़ने वाली शक्ति के रूप मे स्वीकारा गया है जबकि धर्म को एक अफीम समझकर व्यक्तिगत आस्था का विषय ही माना गया है। वहां अनेक भाषाएं हैं पर कोई विवाद नहीं है। लेकिन हमारे यहा उनकी तुलना में कम भाषाएं और बोलिया होने पर भी सर्वाधिक विवाद उत्पन्न कर दिये गये हैं। क्या राजस्थानी, असमी, गुजराती, मराठी, मलयालम या अन्य किसी प्रादेशिक भाषा में बोलने वाला और लिखने-सोचने वाला हिन्दी समर्थक से कम भारतीय है? वस्तुतः मातृभाषा का विज्ञान, समाजशास्त्र और बुनियाद अलग है तथा राष्ट्रभाषा की आवश्यकता और भूमिका अलग है। जो लोग इन दोनों बातों को मिलाने की कोशिश करते हैं, वही असल मे भाषा को राजनीति से जोडते हैं। कामराज हिन्दी नहीं जानते थे लेकिन देश की सबसे बडी राजनैतिक पार्टी के अध्यक्ष थे, नेहरू जी कभी कोई प्रादेशिक भाषा नहीं बोलते थे लेकिन दुनिया के नेता थे। महात्मा गांधी की मातृभाषा गुजराती थी लेकिन उन्हें हमने राष्ट्रपिता के रूप मे स्वीकारा है। रवीन्द्रनाथ टैगोर

ने बंगाली में ही साहित्य लिखा, लेकिन उनके बिना भारतीय चिन्तन की कल्पना ही अधूरी है। इसी तरह कबीर, तुलसी, सूरदास, नामदेव, तिरुवल्लुवर, रहीम, रसखान, गालिब जैसे सैंकड़ों अमर लेखकों ने अपनी मातृभाषा में ही सर्वश्रेष्ठ लिखा लेकिन उनको मान्यता देने से हमारी एकता घटी नहीं, अपितु बढ़ी है। अतः मातृभाषा की वकालत करना कोई अपराध अथवा राजनीति नहीं है, अपितु अपने भीतर के श्रेष्ठ मूल्यों को देश की सम्पन्नता के लिए समर्पित करने का प्रयास मात्र है।

राजस्थान का ही प्रसंग लें—इन दिनों की चुनावी सभाओं में लोकसभा अध्यक्ष बलराम जाखड़, दलित मजदूर किसान पार्टी के नाथूराम मिर्धा, जनता पार्टी के कल्याण सिंह कालवी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के मेघराज तावड़, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के त्रिलोक सिंह तथा दूसरे अनेक विभिन्न दलों के तथा निर्दलीय उम्मीदवार भी मतदाताओं से राजस्थानी (मातृभाषा) में ही सहयोग का अनुरोध कर रहे हैं। क्या ये लोग राष्ट्रभाषा नहीं जानते हैं, जो मातृभाषा में वोट माँग रहे हैं। ऐसा नहीं है, वस्तुतः यह सब मतदाताओं के मन को छूने के लिए, जीतने के लिए, उससे घुलमिल जाने के लिए राजस्थानी में बोल रहे हैं। इससे उनकी भारतीयता में अथवा ज्ञानकोष मे कहीं कोई कमी नहीं आने वाली है। यह बात दूसरी है कि जो भाषा आज मतदाता से दोस्ती करने के लिए जरूरी है, वह राजस्थानी भाषा संसद में जाकर भुला दी जाये। हमें इस कथनी और करनी के अन्तर को पाटना होगा। यहाँ प्रश्न सिर्फ इतना-सा है कि जो भाषा चुनावों में सहयोग करे, वह भाषा राजनेता के भावी सामाजिक जीवन में भी विस्मृत और तिरस्कृत न हो।

19 अक्टूबर, 1984 को स्वर्गीया प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी से 'माणक' (राजस्थानी मासिक) के सम्पादक पदम मेहता की अगुवाई में एक प्रतिनिधि मण्डल ने मिलकर यह माँग की थी कि राजस्थान को संविधान की आठवीं अनुसूची मे शामिल किया जाये। इस पर इन्दिरा जी ने खुले मन से राजस्थानी भाषा और साहित्य की समृद्धता को स्वीकार करते हुए कहा कि राजस्थानी को सभी प्रोत्साहन दिये जाने चाहिएँ।

लेकिन संविधान की आठवीं सूची में शामिल करने से राजस्थानी के विकास और मान्यता का कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ विचारणीय प्रश्न इतना-सा ही है कि जब संविधान में आठवीं सूची और उसमें अनेक भाषाओं को मान्यता दी गयी है, फिर राजस्थानी के प्रश्न पर क्या दिक्कत आ रही है? या तो फिर भाषाओं की आठवीं सूची को ही समाप्त कर दिया जाये, या फिर संविधान की आठवीं सूची में भाषाई मान्यता के वैज्ञानिक सिद्धान्त तय कर दिये जाएँ। मान्यता के सवाल पर हमारा नजरिया एक जैसा और गैर राजनैतिक होना चाहिए, किसी की सुविधा से किसी भाषा का महत्त्व घटाया-बढ़ाया नहीं जाना चाहिए।

जनगणना मे मातृभाषा के आंकड़ो को छपाने से या उन्हें बोलियो मे विभाजित करके रखने से कोई भाषा समाप्त नही हो सकती और कोई भाषा सरकारी मान्यता की मोहताज भी नही होती । वह तो जनता में जीवित रहती है, लेकिन एक पिता की कुछ पुत्रियों (भाषाओं) को दहेज में (संविधान की) मान्यता देना और कुछ बेटियो को यह कहकर विदा कर देना कि—"बेटा ! दहेज से क्या फर्क पड़ता है, तेरा सुहाग अमर रहे," उस बेटी के मन को कितनी पीड़ा पहुंचायेगा ? 1981 मे जयपुर मे 'राजस्थानी सम्मेलन' के लिए अपने संदेश मे इंदिराजी ने कहा था—'हमारे देश की सांस्कृतिक और पारंपरिक मूल्यो की रक्षा करने में राजस्थानी साहित्य का अमूल्य योगदान रहा है, यहाँ के लोकगीत आज भी सारे देश मे गाये जाते है, जिनमे सद्भाव और सौहार्द्र की भावना की झलक मिलती है । मुझे खुशी है कि 'राजस्थान प्रगतिशील लेखक संघ' के तत्वाधान मे 'राजस्थानी सम्मेलन' आयोजित किया जा रहा है । मेरी आशा है कि इसमे भाग लेने वाले बुद्धिजीवी राष्ट्रीय एकता का मार्ग प्रशस्त करेंगे । इस सम्मेलन की सफलता के लिए मेरी शुभकामनाएँ है ।" हम आज इसी शुभकामना को साक्षी मानकर कहना चाहते है कि राजस्थानी भाषा मे बोलकर हमारे नेता वोट ही न मांगे, अपितु उसे संविधान मे और अपने दिल मे आदर एव मान्यता भी दें । मुझे सदैव विश्वास था कि इन्दिरा जी के द्वारा देर-सवेर राजस्थानी को मान्यता दी जायेगी । सरकार मे बैठकर नेताओ की कई विवशताएँ और तात्कालिक रणनीतियाँ बनती हैं, लेकिन उनका मन कहीं किसी सच्चाई को भी जानता है और वह सच्चाई ही उन्हे आम जनता से जोड़े रखती है ।

आज राजस्थानी भाषा मे आकाशवाणी से समाचार प्रसारित होते हैं, विश्वविद्यालय मे उसे अनिवार्य तो नही लेकिन ऐच्छिक विषय के रूप मे पढ़ाया भी जाता है । केन्द्रीय साहित्य अकादमी भी उसे भाषा की मान्यता दे चुकी है तथा पिछले दिनों प्रान्त मे राजस्थानी की स्वतन्त्र अकादमी भी गठित कर दी गई है । लेकिन इन सबके बावजूद भी प्रान्त मे राजस्थानी को सौतेली बहन की तरह समझना एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है जिसे लोकतन्त्र की एक अच्छी मिसाल नही कहा जायेगा । जब हम सभी क्षेत्रो मे समानता और सामाजिक न्याय की पैरवी करते हैं तो राजस्थानी भाषा को ही इस न्याय से वंचित रखना कहाँ तक उचित है ? यह प्रश्न जहाँ मैं आम जनता से करता हूं, वहीं जनता के नेताओ से भी करता हू ।

वर्तमान मे राजस्थान विधानसभा के सामने राजस्थानी भाषा को संविधान की आठवी सूची मे शामिल करने का संकल्प विचाराधीन है । श्रीमती लक्ष्मी कुमारी चूंडावत के इस प्रस्ताव को पिछले दो वर्षों से टाला जा रहा है लेकिन यह कोई न्यायपूर्ण बात नही कही जायेगी । सौभाग्य से राजस्थान के सभी दल व्यक्तिगत बातचीत मे राजस्थानी की मान्यता और विकास से सहमत हैं लेकिन सबका सद्भाव

श्रौर शुभकामनाएँ होने के बाद भी राजस्थानी का संकल्प विधानसभा में पारित क्यों नही हो रहा, इस पर गंभीरता से विचार किया जाना चाहिये।

हम सब से पहले भारतीय हैं तथा हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है श्रौर चुनाव में मतदाता से दोस्ती स्थापित करने वाली सम्पर्क भाषा भी है। समय की सच्चाई का ग्रहसास ही लोकतन्त्र को मजबूत बनाता है ग्रतः भाषा को धर्म श्रौर जाति की तरह विघटन का ग्राधार न मानकर—राष्ट्रीय एकता श्रौर विकास का माध्यम समझा जाना चाहिए। देश के सात करोड़ राजस्थानियों को ग्रब समझदारी से श्रीमती इन्दिरा गांधी की शुभकामनाओं को मान्यता का ग्रमलीजामा पहनाने की पहल करनी चाहिए। वरना राजस्थानी में एक कहावत है कि—सूतोड़ा री पाडा जणसी ग्रर्थात् सोने वालों की भैंस तो पाडा ही पैदा करेगी।

6-12-1985

ग्रपना ग्रपना तमाशा

हमारे समाज में ग्राजादी के बाद, लोकतान्त्रिक चुनावो की राजनीति के ग्रन्तर्गत 'धर्म' नाम की विषय-वस्तु बहुत बड़े सरदर्द का कारण बन गई है। बहुत कम लोग धर्म का सच्चा ग्रर्थ जानते हैं तथा बहुत कम लोग हैं जो धर्म को राजनीति से ग्रलग मानते हैं।

धर्म ग्रब निहित स्वार्थों के संगठित होने का ग्राधार बन गया है तथा संकीर्णता, जड़ता, ग्रंधविश्वास, सामाजिक कुरीतियाँ जैसी ग्रनेक बुराइयाँ भी ग्राज धर्म के नाम पर खुले ग्राम चलाई जा रही हैं। मानव-कल्याण की भावना, धर्म के प्रसंग में महत्वहीन वस्तु बन गई है तो साम, दाम, दण्ड, भेद से किसी चीज को प्राप्त करना ही ग्राज हमारा सबसे बड़ा धर्म बन गया है। धर्म ग्रौर इसके बगल-बच्चे 'सम्प्रदाय', ग्राजादी के बाद से हमारे यहाँ बहुत ग्रधिक सिर उठाने लगे हैं।

ग्रब व्यापारी का धर्म है मुनाफा कमाना, कर्मचारी का धर्म है रिश्वत लेना, राजा-जोगी-ग्रग्नि-जल का धर्म है बलिदान लेना, विद्यार्थी का धर्म है नकल मारना, ... का धर्म है चरित्र हनन करना, पुलिस का धर्म है सेंध लगवाना, मजदूर का ...न घटाना, नेता का धर्म है झूठ बोलना, पुजारी का धर्म है ... ...ी का धर्म है चार शादियाँ करना, कवियों का धर्म है शादी, ब्याह ग्रौर

कुरुक्षेत्र में कविताएँ पढ़ना, प्रशासन का धर्म है जनता की अवहेलना करना, न्यायालय का धर्म है 20-20 साल तक मुकदमा नहीं सुनना। और क्या कहें, सबके अपने-अपने धर्म हैं और व्याख्याएं हैं।

पंडित, मुल्ला, पादरी और ग्रंथी सभी यह कहते हैं कि मनुष्य की सेवा ही सबसे बड़ा धर्म है तथा सभी धर्मों में मनुष्य प्रेम और समानता पर जोर दिया गया है। लेकिन स्थिति इसके ठीक विपरीत है। मैं पिछले दिनों एक भक्तिभाव वाले मित्र के साथ मन्दिर में गया था। हम लोग चुपचाप मूर्ति के सामने खड़े हो गये। मेरे दोस्त ने नया स्कूटर खरीदा था तो वे उसकी शुरुआत मन्दिर में पूजा-प्रसाद चढ़ाकर करना चाहते थे। मेरे दोस्त ने, पुजारी को साथ लेकर गये प्रसाद का डब्बा सौंप दिया। तुरत-फुरत पुजारी ने उसमें से अच्छा-खासा भाग निकालकर, दोस्त को डिब्बा लौटा दिया तथा तिलक के लिए सिंदूर का लेप एक कागज पर रखकर उनको दे दिया। मेरे पास न प्रसाद था और न ही स्कूटर। लिहाजा—पंडित बोले—बाबूजी, यह तिलक हम उन्हीं को देते हैं जो नई गाड़ी लाते हैं या प्रसाद लाते हैं। यदि आप तिलक करवाना चाहते हैं तो वहाँ सामने मन्दिर के द्वार पर जो सिंदूर चिपका है, उससे तिलक करलें। मैं मन्दिर भी अनचाहे गया था और ऊपर से पुजारी का यह भेदभाव सुनकर मन ग्लानि से भर गया और मैं आते-आते पुजारी से यह कहने से नहीं रह पाया कि आप लोग तिलक भी बेचते हैं। क्या यही आपका धर्म है?

यह तो एक उदाहरण है मानसिकता का। एक और चित्र देखिये। मेरे शहर में कोई 4 करोड़ रुपयों की लागत से एक मन्दिर बना है। यह संगमरमर का धवल मन्दिर निश्चय ही किसी सेठ ने एक नम्बर की मेहनतभरी पसीने की कमाई से बनाया होगा। शायद भारत का यह पहला मन्दिर है जिसका गर्भगृह वातानुकूलित है। अब वहाँ लोग भक्तिपूजा भी करते हैं तो फिर मन्दिर की हरी दूब पर घंटों बैठकर थकान भी मिटाते हैं। यहाँ गरीब-अमीर सभी आते हैं। मूर्ति की पूजा करते हैं लेकिन गरीब यहाँ अपनी भूख समाप्त करने का वरदान मांगते हैं तो पैसे वाले यहाँ और अधिक धन-दौलत बढ़ने का वरदान मांगते हैं।

मन्दिर की ऐसी ही माया सैकड़ों उद्योग चलाने वाले एक दूसरे सेठ की कृपा से देखने में आती है। भगवान राम के इस मन्दिर में भगवान की तस्वीरें बिकती हैं और गरीब और अमीर सभी उन्हें खरीदकर अपने गले में टांगे हुए हैं। जयपुर का ही उदाहरण लें। यहाँ सदियों से घर-घर में मन्दिर बनाकर पूजापाठ करने की परम्परा रही है। ये सभी मन्दिर या तो देवस्थान विभाग चलाता है, या फिर कोई ट्रस्ट इनकी देखभाल करता है। भक्तों की भीड़ किसी भी गली कोने के मन्दिर में कम नहीं है। पढ़े और अनपढ़ सभी पूजा में मलग्न हैं। किसी को स्वर्ग में जाने

अपना अपना तमाशा

हमारे समाज में आजादी के बाद, लोकतान्त्रिक चुनावों की राजनीति के अन्तर्गत 'धर्म' नाम की विषय-वस्तु बहुत बड़े सरदर्द का कारण बन गई है। बहुत कम लोग धर्म का सच्चा अर्थ जानते हैं तथा बहुत कम लोग हैं जो धर्म को राजनीति से अलग मानते हैं।

धर्म अब निहित स्वार्थों के संगठित होने का आधार बन गया है तथा संकीर्णता, जड़ता, अंधविश्वास, सामाजिक कुरीतियाँ जैसी अनेक बुराइयाँ भी आज धर्म के नाम पर खुले आम चलाई जा रही हैं। मानव-कल्याण की भावना, धर्म के प्रसंग में महत्वहीन वस्तु बन गई है तो साम, दाम, दण्ड, भेद से किसी चीज को प्राप्त करना ही आज हमारा सबसे बड़ा धर्म बन गया है। धर्म और इसके बगल-बच्चे 'सम्प्रदाय', आजादी के बाद से हमारे यहाँ बहुत अधिक सिर उठाने लगे हैं।

अब व्यापारी का धर्म है मुनाफा कमाना, कर्मचारी का धर्म है रिश्वत लेना, राजा-जोगी-अग्नि-जल का धर्म है बलिदान लेना, विद्यार्थी का धर्म है नकल मारना, पत्रकार का धर्म है चरित्र हनन करना, पुलिस का धर्म है सेंध लगवाना, मजदूर का धर्म है उत्पादन घटाना, नेता का धर्म है झूठ बोलना, पुजारी का धर्म है प्रसाद बेचना, आदमी का धर्म है चार शादियाँ करना, कवियों का धर्म है शादी, ब्याह और

की चिन्ता है तो किसी को जीते जी भोग रहे 84 लाख नर्कों से मुक्ति की चि
है। दोनों ही चिन्तित है। एक की चिन्ता अपनी तकलीफों से मुक्ति की है तो दू
की चिन्ता व्यापार में मुनाफा बढ़ाने की है। यह सारा धर्म के नाम पर हो रहा
तथा जो भी इस भ्रम को तोड़ने का प्रयास करता है, हम उसे नास्तिक कह
अलग कर देते हैं।

हमारे यहाँ एक ऐसा वर्ग है जो सालभर का बुरा-भला करने के बाद, क्ष
के दो शब्द कहकर अचानक एक दिन सभी वर्षभर की गलतियों से बरी हो जा
है। हमारे यहाँ एक वर्ग ऐसा है जो पूजास्थलों पर लाउडस्पीकर लगा लगाकर अपन
समस्याएं और भक्ति भावना ऊपर वाले (भगवान) तक पहुंचाता है। हमारे यह
एक वर्ग ऐसा है जो हजारों की संख्या में दल बनाकर पैदल किसी मन्दिर की
परिक्रमा करने जाता है। हमारे यहाँ आज भी बच्चों के जडूले (बाल) किसी न
किसी मंदिर में उतार कर कुए मे डाले जाते हैं। यहाँ तक कि देश में एक मन्दिर
की तो यह महिमा है कि वहाँ चढावे में आये बाल विदेश में निर्यात तक होते हैं।
हमारे यहाँ एक महा मन्दिर ऐसा भी है जहाँ प्रसाद की पत्तलें बिकती हैं तथा
झांकियों और भोग की बोलियाँ लगती हैं।

इन थोड़े से उदाहरणों से आप अनुमान लगा सकते है कि हम और हमारे
धर्म की पूरी दुनिया चारों तरफ से 'अर्थवाद' से जुड़ी हुई है। मैंने राजस्थान के
एक प्रसिद्ध मन्दिर में देखा कि वहाँ पैसा खर्च करके पूजा कराने वालों को सभी
भक्तों के आगे बैठाकर प्राथमिकता से पूजा करवाई जाती है। दरअसल यह धर्म
नही, वरन् एक व्यापार है। पुष्कर में एक मन्दिर की पूजा की गई। किसी सेठानी
को पुजारी ने कहा—बाई! पूजा का समय होता है। तुम देर से आई हो अतः
भगवान के पट बन्द हो गए हैं। सेठानी का व्रत था कि वह मन्दिर दर्शन करके ही
खाना खायेगी। उसने पुजारी से काफी अनुनय विनय की पर पट नहीं खुले। बात-
चीत में गर्मी बढ़ गई तो पुजारी बोला—ऐसी ध्वजा बनती हो तो अपने लिए कोई
मन्दिर क्यों नही बनवा लेती। आखिरकार, व्यंग्य और अपमान से पीड़ित उस
सेठानी ने देखते ही देखते एक भव्य मन्दिर बनवा दिया है।

अमीरों में मन्दिर की एक बानगी तो यह है तथा दूसरी बानगी आप रोडवेज
के अड्डों पर, स्कूल के प्रांगणों में, सरकारी दफ्तरों के कौनों में, यहाँ तक कि आम
सड़क तक पर आप दिन मे सैकड़ों जगह छोटे-छोटे मन्दिर और मजारों के रूप में देख
सकते हैं। हर व्यक्ति भक्तिवाद से इतना आन्दोलित है कि और कुछ न भी कर पाये लेकिन
छोटा-मोटा मंदिर जहाँ भी जगह दिखती है, खड़ा कर देता है। जब देश में 33 करोड़
देवता (आबादी) थे, तब भी मन्दिरों की भरमार थी तो अब 75 करोड़ देवता (आबादी)

हैं तो मन्दिरों की संख्या भी उसी तरह दिन-दूनी और रात चौगनी बढ़ रही है। खासकर सरकारी और सार्वजनिक जमीनों पर तथा उद्यानों पर कब्जा जमाने के लिये मन्दिर, मजार, गुरुद्वारा आदि बनवाने का कारोबार आजकल जोरों पर है। यहाँ तक कि कोई बांध, नहर, तालाब, कारखाना भी बनता है तो पहले वहाँ कहीं कोने में छोटा मन्दिर अवश्य बनाया जाता है। मन्दिरों के कलश अभिषेक, आरती, झांकी और पुर्णोद्वार के समय आजकल किसी मन्त्री महोदय को बुलाने का रिवाज भी आम है।

धर्म के यह नाना रूप हम सभी तरफ आसानी से देख सकते हैं। लोगों के घर में उनके माता-पिता की तस्वीर भले ही न मिले लेकिन भगवान की फोटू जरूर टंगी हुई मिल जायेगी। आप सर्वेक्षण कर लें। आज लोगों के घरों में या तो भगवान की मूर्तियाँ और कैलेण्डर मिलेंगे या फिर फिल्मी तारिकाओं की तसवीरें। राष्ट्र-निर्माता, समाज-सुधारक, स्वाधीनता सेनानी, अमर लेखक या अपने ही जीवन सुधार की तस्वीरें और प्रकृति के मोहक चित्र अब आम घरों में दुर्लभ हैं। धर्म की स्थिति यह है कि जिसकी जो समझ में आता है, सो करता है तथा ऊपर से कहता है कि यह मेरा धर्म है, जाति (निजी) मामला है, अतः आप इसमें दखल न करें। बड़ी हास्यास्पद बातें है, यह सब। आप अपने निजी धर्म के नाम पर कुछ भी कर लें, लेकिन कोई आपको कुछ कह नहीं सकता।

चाहे आप बस में बैठें तथा दफ्तर में जायें। सभी तरफ भगवान हाजिर हैं तथा सारा काम हम भगवान को हाजिर-नाजिर मानकर किये जा रहे हैं। मेरे शहर में एक सेठ हैं जो सिनेमा चलाते हैं हीरे-जवाहरात का व्यापार करते हैं तथा उनके यहाँ आयकर वालों के छापे भी पड़ चुके हैं। लेकिन अपनी लुप्ती प्रतिष्ठा को बचाने के लिए आजकल वे साल में एक बार बैण्ड-बाजों के साथ भगवान की झांकियाँ निकालते हैं। हजारों अनजान इन सेठ साहब की धर्म-भावना के प्रशंसक हैं, लेकिन तस्वीर का दूसरा पहलू कौन जानता है?

मेरे शहर में मुख्य सड़क पर केन्द्र सरकार के एक महत्वपूर्ण प्रतिष्ठान का दफ्तर बनना था। कुछ स्वार्थी लोगों को यह बात मंजूर नहीं थी। आप आश्चर्य करेंगे कि इन लोगों ने रातोंरात उस जमीन पर भगवान की मूर्ति स्थापित कर दी तथा अखण्ड कीर्तन चालू करवा दिया। बात अदालत तक भी गई, लेकिन हुआ यही कि उस प्रतिष्ठान का भवन आज तक नहीं बन पाया, लेकिन मुकदमा और पूजा-कीर्तन अभी भी वहाँ बदस्तूर जारी है।

हमारे यहाँ धर्म के नाम पर कमाई का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है कि कई बड़े मन्दिरों के पुजारी ट्रासपोर्ट और इश्क कम्पनियाँ चलाते हैं तो कुछ बड़े

पुजारी बम्बई में फिल्म निर्माताओं के साथ मिलकर फिल्में बनाने का धन्धा करते हैं। यहाँ तक कि अनेक सम्पन्न पुजारी कई बड़े शहरों में होटलें चलाते हैं।

अब धर्म क्या है, मुझे समझ में नहीं आता। पंजाब में धर्म को राजनीति का हथियार बनाया गया, उसके परिणाम आप देख ही रहे हैं। जगह-जगह धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर जारी मारकाट से भी आप परिचित है। अब सोचना यह पड़ता है कि धर्म को आखिर किस सीमा तक और किस रूप में ग्रहण किया जाये, ताकि वह सार्वजनिक अराजकता, अन्धविश्वास और निजी व्यापार का विषय नहीं बने।

आश्चर्य तो तब आता है, जब इसके नाम पर सैकड़ों आचार्य, भगवान, योगेश्वर, महन्त, पीर, सन्त और मसीहा, अवतार हमारे बीच फलने-फूलने लगते हैं। आप शहर में बड़े से बड़े राष्ट्रीय उद्देश्य को लेकर कोई सभा सम्मेलन करेंगे तो सौ सवा सौ लोग ही आयेंगे, लेकिन कोई धर्मगुरु आयेगा तो हजारों की संख्या में लोग पहुंच जायेंगे। यह बीमारी महिलाओं मे और भी अधिक है। वे अपनी सम्पूर्ण यातना का हल और पारिवारिक प्रसन्नता का वरदान यहीं आकर माँगती हैं। यहाँ तक कि जनसचार के माध्यमों मे भी इन आचार्यों और भगवानों के विज्ञापनी परिशिष्ट निकलते हैं। ध्यान, योग, तप एवं आराधना के कैम्प लगाये जाते है। और तो और इस सारी अखाड़ेबाजी का कायदेवार संचालन दफ्तर लगाकर, ट्रस्ट और समितियाँ बनाकर लोग करते है। सोने मे सुहागा ये कि—इन धार्मिक संस्थानों को समाज-सेवा के नाम पर आयकर मुक्त राशि लेने की सुविधा भी होती है।

धर्म का यह कर्मकाण्ड इस तरह हमारे समाज को जकड़े हुए है कि जिससे भी सुबह-शाम सम्पर्क करो तो उत्तर मिलेगा—साहब पूजा में बैठे है या साहब मन्दिर गये हैं। जिस देश में लोगों को रोज सुबह-शाम घण्टों तक पूजा-दर्शन की फुर्सत रहती हो, उस समाज मे उन गरीबों का क्या होगा जो भूख को ही भगवान मानकर ओढ़ते और बिछाते हैं। अन्धविश्वास का यह अन्धेरा हमारे राष्ट्रीय विकास को पूरी तरह घेरे हुए है। आदमी बदल रहा है लेकिन वह केवल व्यापारी बनता जा रहा है। ज्ञान, विज्ञान, उत्पादन और वितरण की सारी चाबियाँ अब उन लोगों के पास हैं जो धनी हैं या भगवान के तथाकथित प्रिय हैं।

हमारी अदालतों में मन्दिरों की जमीन के झगड़े, सम्पत्ति और पूजा-चढ़ावे के झगड़े आये दिन सामने आते हैं। यहाँ न्यायाधीश, नगे पाँव मुनियों के सार्वजनिक जुलूसों में चलते हैं, यहाँ राजनेता साम्प्रदायिक गुरुओं के साथ एक मंच पर भाषण देकर फोटो खिचवाते हैं, यहाँ धार्मिक-संस्थाओं की समितियों में प्रशासनिक सेवा के वरिष्ठ लोगों की नामावली छपती है तथा हमारे यहाँ धर्मसभाओं के लिए साधनों

को कभी कोई कमी नहीं आती। यहाँ यह भी ज्ञात हो कि आज एक-एक धर्म-सम्प्रदाय के अपने अखबार, पुस्तकें और प्रचारक हैं। हर सन्त, पंथ से बढ़कर किसी को नहीं मानता। इनका साहित्य भी बिकता है और इनका धर्मरथ भी दौड़ता है। राज्य की साहित्य अकादमियाँ पुस्तकें छापने के प्रयास में फेल हो गई हैं लेकिन यह धर्म सस्थान पूरी तरह मस्त है। अभी-अभी एक धनिक वर्ग का वार्षिक जलसा हुआ। उस अवसर पर छपी एक स्मारिका में कोई तीन लाख रुपयों के विज्ञापन होंगे। अब आप अन्दाज लगाइये कि जो धर्म, तप, ध्यान, अपरिग्रह और दिगम्बरी के पहले भोजन करने की सीख देता हो वह धर्म-भला इन स्मारिकाओं से भगवान या धर्म का कौन-सा खर्च वसूल करना चाहते हैं? ऐसे अनेक उदाहरण हैं। मेरे एक मित्र हैं लोहे के व्यापारी—बुढ़ापे में उनके सात लड़कियों के बाद लड़का हुआ। उन्हें यह विश्वास हो गया कि मेरी पुकार भगवान ने सुन ली है। अब वे हर साल अपने भगवान के मेले में हजारों यात्रियों को अपने खर्चे से ले जाते हैं। भगवान भी खुश होंगे, जनता भी खुश है तथा सेठजी को तो लड़का मिल ही गया है।

मेरे एक मित्र हैं बड़े अधिकारी हैं, वे जैसे ही एक राजकीय उपक्रम के अध्यक्ष बने उन्होंने उस उपक्रम के मुख्य केन्द्र पर धार्मिक साहित्य की दुकान खुलवा दी। हमारे एक परिचित विधायक हैं। किसी बाबा के अडिग भक्त। वे जैसे ही दो बरस के लिए मन्त्री बने, उनकी छत्रछाया में उन बाबाजी ने बहुत बड़ी जमीन कब्जाकर पूरा आश्रम बनवा लिया। आश्रम में फोन है, भगवान की मूर्ति पर पंखा चलता है तथा ट्यूबलाइट की रोशनी में रोज पूजा आरती होती है। मजा तो यह है कि मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारों, गिरजाघरों की व्यापक आय के बावजूद इनको बिजली-पानी मुफ्त मिलती है। लोकतन्त्र में भगवान की माया और धर्म के रथ पर जो भी बैठ जाता है, वह चुनाव में भी जीत जाता है तथा समाज तो उसे सम्मान देता ही है।

धर्म का यह दैनिक स्वरूप गंडे, ताबीज, झाड़-फूंक, टोना, टोटका जैसी अनेक प्रवृत्तियों से ओतप्रोत है। धर्म के नाम पर सुरक्षित यह व्यवस्था कितनी ठोस है, इसका अनुमान तो आप इस बात से लगा सकते हैं कि ज्यों-ज्यों सामाजिक बदलाव की आवश्यकताएँ जोर पकड़ रही हैं, त्यों-त्यों धर्म और उसके गुरु भी लोकतन्त्र एवं समाजवाद को अपने प्रवचनों में शामिल करने लगे हैं। धर्म भी—उपभोक्ता सामग्री की तरह—विज्ञापन के सहारे फैल रहा है। शायद वह दिन कभी आयेगा, जब धर्म हमारा सामाजिक शोषण नहीं कर पायेगा। अतः आप भी धर्म को आस्था से नहीं, अपितु तर्क से देखें ताकि इस भूखी-नंगी दुनियाँ में सबका भला हो, विकास हो।

10-10-1985

राष्ट्र भाषा का रथ

राष्ट्रभाषा हिन्दी का रथ जिन दो पहियों पर चल रहा है, उसमें एक है सरकार और दूसरा है जनता। 14 सितम्बर, 1949 को भारतीय संविधान में हिन्दी को भारतीय संघ की राजभाषा घोषित किया गया था। तब से लेकर अब तक हिन्दी का निसंदेह कामकाज और व्यवहार में बहुत फैलाव हुआ है। जहां पहले दक्षिण भारत में हिन्दी बोलने पर कोई उत्तर अथवा सहयोग नहीं मिलता था, वहां आज अधिकांश लोग हिन्दी को सुनते हैं, समझते हैं और उसका उत्तर भी सहजता से देते हैं। यह मानसिक बदलाव बहुत धीमा है, किन्तु लाभदायक है, इस बात से हमें इन्कार नहीं करना चाहिये। केरल और कर्नाटक में जहां हिन्दी के अनेक समाचार पत्र निकलने लगे हैं, वहां अनेक राष्ट्रभाषा हिन्दी की संस्थाएं भी इसके प्रचार-प्रसार में जुटी हुई हैं। 'केरल हिन्दी प्रचार सभा' और 'राष्ट्रभाषा हिन्दी प्रचार समिति, वर्धा (महाराष्ट्र)' तो आज हिन्दी प्रसार की अग्रणी संस्थाओं में गिनी जाती हैं। हां तमिलनाडू में तथा आंध्रप्रदेश में भाषा को एक राजनैतिक हथियार मान लिये जाने के कारण वहां एक शासकीय एवं निहित वर्ग में राष्ट्रभाषा हिन्दी का विरोध बराबर बना हुआ है, लेकिन इन प्रान्तों में भी आम जनता के बीच हिन्दी की समझ बराबर बढ़ने से विरोधी लोगों के हौसले धीरे-धीरे पस्त होते नजर आते हैं। अन्य प्रदेशों में जैसे पश्चिमी बंगाल, गुजरात, उड़ीसा तथा असम में भी हिन्दी का विरोध जैसा विरोध दिखाई नहीं देता, अपितु पिछले 10 वर्षों में जिस तेजी से इनके प्रादेशिक साहित्य का अनुवाद हिन्दी में आकर सम्मानित होने लगा है, उससे इन क्षेत्रों के लोग भी अपने को एक बड़ी भारतीय इकाई का महत्वपूर्ण अंग मानने लगे हैं। वस्तुतः समस्या तब खड़ी होती है, जब उत्तर भारत के हिन्दीभाषी राष्ट्रभाषा और राजभाषा के नाम पर जल्दी और विशेष आग्रह का सवाल उठाते हैं। लोग यह भी तर्क देते हैं कि आखिर हिन्दी को राष्ट्रभाषा अथवा राजभाषा का स्थान लेने के लिये आजादी के 38 वर्ष बाद भी अब और कितना समय लगेगा। यहां मेरा सोचना है कि भारत जैसे सम्पन्न प्रादेशिक भाषाओं वाले देश में भाषा और संस्कृति के प्रति जो मोह और संकीर्णता पिछले वर्षों में बनी है, उसे हम जल्दबाजी में नहीं बदल सकते। फिर जब भाषा का प्रश्न वोटों की राजनीति से, रोजगार से तथा लोगों की सामाजिक, आर्थिक स्थितियों से जोड़कर इस्तेमाल किया जाता है तब हमें समन्वय और संतुलन की रणनीति तो बनानी ही पड़ेगी। हम इस तथ्य को कभी नहीं भुला सकते कि आजादी की लड़ाई में राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को मान्यता देने की पहल अधिकांश अहिन्दीभाषियों ने ही की थी। आज भी दक्षिण भारत का व्यक्ति उत्तर भारत में नौकरी के लिये रहने पर हिन्दी को निसंकोच अपनाता रहा है तथा इसके साहित्य और समाजशास्त्र को भी पढ़ता है, किन्तु इसके ठोस विरोध

उत्तर भारत में दक्षिण और पूरब पश्चिम की भाषाओं को पढ़ने और जानने का लगाव बहुत कम हिन्दी भाषा-भाषियों में है। उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, बिहार, हिमाचल प्रदेश राज्यों में भी हिन्दी को जिस औपचारिक ढंग से माना जाता है और लागू किया जाता है, वह स्थिति भी हिन्दी विकास के लिये आज एक चुनौती है। अंग्रेजी माध्यम की स्कूलों में अपने बच्चों को पढ़ाना, अच्छी नौकरी के लिये अंग्रेजी को ही जीवनदायिनी भाषा समझना और अंग्रेजी को ही विश्वज्ञान की खुली खिड़की मानना आज उत्तर भारत में हिन्दी विकास की मानसिकता बनाने में सबसे बड़ी बाधा बनी हुई है। आज हिन्दी प्रदेशों की ही यह हालत है कि यह सरकार में सचिव स्तर का अधिकांश कामकाज अंग्रेजी में होता है। यहां तक कि हिन्दी भाषी राज्य भी आपसी पत्र व्यवहार अभी तक अंग्रेजी में ही करते हैं। और तो और हिन्दी दिवस अथवा संस्कृत दिवस पर राज्यपाल का संदेश भी अंग्रेजी में दिया जाता है। यह तो गनीमत है कि भारत में अब तक के लगभग सभी प्रधान मंत्री—उत्तर भारत के ही रहे हैं (मोरारजी देसाई को छोड़कर) वरना यदि कोई अहिन्दी भाषा क्षेत्र का प्रधानमंत्री आ जाता, तो शायद लालकिले की प्राचीर से भी राष्ट्र को संदेश अंग्रेजी या किसी अन्य भाषा में ही दिया जाता। हम इन संवेदनशील स्थितियों का जब जब खुलासा करते हैं, तो हालात को देखकर मन में भय और थकान भर जाती है, अतः यह सोचना पड़ता है कि हिन्दी को सबके गले उतारने के लिये जोर जबर्दस्ती न की जाय, लेकिन यह प्रयास किया जाय कि राष्ट्रभाषा के रूप में धीरे धीरे सभी स्तरों पर हिन्दी का उपयोग बढ़ाया जाय तथा इसे देश की सामाजिक धार्मिक बनावट के साथ-साथ जोड़कर भारतीय संस्कृति की मुख्यधारा के रूप में विकसित किया जाय। यह बात निर्विवाद सत्य है कि हिन्दी का जितना अहित उत्तर भारत में हो रहा है, उतना कहीं नहीं हो रहा है। खासकर अहिन्दी भाषी राज्यों में भी जो पहले पहल नौकरी, व्यापार एवं शासन में हिन्दी को लेकर पिछड़ जाने का डर था, वह भी पिछले वर्षों में बहुत हद तक समाप्त हुआ है। केरल की नर्स राजस्थान के रेगिस्तानी और आदिवासी गावों में हिन्दी और राजस्थानी बोलती है तथा वैसे ही प्रवासी राजस्थानी जब—मद्रास, कलकत्ता, बम्बई, गोहाटी, भुवनेश्वर, हैदराबाद या बैंगलोर में वहां की प्रादेशिक भाषा को अपना सम्पर्क संवाद बनाता है, तो मन खुशी से भूम उठता है, लेकिन अभी भी व्यवसाय के लिये तो वहां की भाषा को सीख लेते हैं, लेकिन मन के किसी कोने में आज भी अपने को किसी प्रदेश की इकाई ही समझते हैं। संस्कृति और सामाजिक सुरक्षा के लिये हम लगातार प्रादेशिकताओं में जीते हैं तथा यह कारण भी है, जिससे राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीयता की मानसिकता को बनाने में कई समस्याएं आती हैं। भाषा के नाम पर हम इतने अनुदारवादी (फैनेटिक) हो जाते हैं कि अन्य प्रादेशिक भाषाओं की श्रेष्ठ परम्परा, साहित्य, संस्कृति एवं जन आंदोलन को समझे बिना

राष्ट्र भाषा का रथ

राष्ट्रभाषा हिन्दी का रथ जिन दो पहियो पर चल रहा है, उसमे एक है सरकार और दूसरा है जनता। 14 सितम्बर, 1949 को भारतीय संविधान मे हिन्दी को भारतीय संघ की राजभाषा घोषित किया गया था। तब से लेकर अब तक हिन्दी का निसंदेह कामकाज और व्यवहार में बहुत फैलाव हुआ है। जहां पहले दक्षिण भारत में हिन्दी बोलने पर कोई उत्तर अथवा सहयोग नहीं मिलता था, वहां आज अधिकांश लोग हिन्दी को सुनते हैं, समझते हैं और उसका उत्तर भी सहजता से देते हैं। यह मानसिक बदलाव बहुत धीमा है, किन्तु लाभदायक है, इस बात से हमें इन्कार नहीं करना चाहिये। केरल और कर्नाटक मे जहां हिन्दी के अनेक समाचार पत्र निकलने लगे हैं, वहां अनेक राष्ट्रभाषा हिन्दी की संस्थाएं भी इसके प्रचार-प्रसार में जुटी हुई हैं। 'केरल हिन्दी प्रचार सभा' और 'राष्ट्रभाषा हिन्दी प्रचार समिति, वर्धा (महाराष्ट्र)' तो आज हिन्दी प्रसार की अग्रणी संस्थाओं में गिनी जाती हैं। हां तमिलनाडू में तथा आंध्रप्रदेश मे भाषा को एक राजनैतिक हथियार बना लिये जाने के कारण वहां एक शासकीय एवं निहित वर्ग में राष्ट्रभाषा हिन्दी का विरोध बराबर बना हुआ है, लेकिन इन प्रान्तो मे भी आम जनता के बीच हिन्दी की समझ बराबर बढ़ने से विरोधी लोगो के हौसले धीरे-धीरे पस्त होते नजर आते हैं। अन्य प्रदेशो में जैसे पश्चिमी बंगाल, गुजरात, उड़ीसा तथा असम मे भी हिन्दी का विरोध जैसा विरोध दिखाई नहीं देता, अपितु पिछले 10 वर्षों मे जिस तेजी से इनके प्रादेशिक साहित्य का अनुवाद हिन्दी मे आकर सम्मानित होने लगा है, उससे इन क्षेत्रो के लोग भी अपने को एक बड़ी भारतीय इकाई का महत्वपूर्ण अंग मानने लगे हैं। वस्तुतः समस्या तब खड़ी होती है, जब उत्तर भारत के हिन्दीभाषी राष्ट्रभाषा और राजभाषा के नाम पर जल्दी और विशेष आग्रह का सवाल उठाते हैं।

इस्तेमाल नहीं करेगा, उसे तनख्वाह नहीं मिलेगी तथा लोग तनख्वाह के लिए हिन्दी सीख लें, यह स्थिति भी आदर्श नहीं है। होना तो यह चाहिए कि लोग स्वेच्छा से, राष्ट्रीय आवश्यकता की भावना से राष्ट्रभाषा को अपनायें। खैर, जो भी हालात है, उनमें उलझने के बजाय यह मानना ही श्रेयस्कर होगा कि हम हिन्दी को अपनी राष्ट्रीय पहचान और प्रतिष्ठा मानकर ग्रहण करें। राजस्थान सरकार का भाषा विभाग इस मानसिकता को आधार भूमि बनाने के लिए जब तक सक्रिय नहीं होगा तथा अंग्रेजी को राजकाज में अपदस्थ करने की मुहिम नहीं चलायेगा, तब तक बात आगे नहीं बढ़ेगी। वस्तुतः भाषा विभाग को जनता का समर्थन जगाकर, राजकीय स्तर पर राष्ट्रभाषा के औचित्य को मनवाने का प्रयास करना चाहिए। भाषा विभाग का वर्तमान सीमायें और अनुवाद मात्र वाला स्वरूप अब अप्रासंगिक है तथा इसे अब एक सक्रिय आन्दोलनपरक इकाई बनना चाहिए। सरकारी नौकरी की काम चलाऊ नीति से तो राष्ट्रभाषा को आगे बढ़ाने में कोई मदद नहीं मिल सकती।

हिन्दी दिवस पर राजस्थान में जो थोड़ा बहुत होता है, वह प्रायः केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों, प्रतिष्ठानों तथा बैंकों आदि के माध्यम से ही होता है या फिर थोड़ा बहुत लेखक, साहित्यकारों की संस्थाओं की तरफ से होता है। यह सब वर्ष में एक दिन की औपचारिकता बन गई है। इस पूरे अभियान में आम जनता का कोई उत्साह और भागीदारी नहीं रहना हमारे लिए विचारणीय प्रश्न है। सैकड़ों हिन्दी सेवी संस्थाएँ होने के बावजूद यदि हम कोई सामूहिक राष्ट्रभाषा चेतना विकसित नहीं कर पाये तो फिर अहिन्दी भाषियों को भला कैसे सन्तुष्ट कर पायेंगे?

19-9-1985

मत चूके चौहान

अवसर जब-जब किसी लेखक को अथवा कलाकार को उसकी किसी रचना पर पुरस्कार अथवा सम्मान मिलता है तो प्रायः हम लोग उसे धिक्कारते और नकारते हुए नजर आते हैं। लेखकों या बुद्धिजीवियों में इस प्रश्न पर जितनी सिर फुटव्वल है उतनी शायद वैज्ञानिकों, शिक्षाशास्त्रियों अथवा किसी अन्य वर्ग में नहीं है। लेखकवर्ग अपनी हीनता से इस तरह पीड़ित है कि उसका जब कहीं बस नहीं चलता तो वह अपने और अपने मित्रों के ही कपड़े फाड़ने लगता है।

अपनी हिन्दी का जाप इस तरह करने लगते हैं, कि लोग हिन्दी सीखने की जगह उससे घबड़ाने लगते हैं।

यह बात बहुत हद तक सच्ची है कि देश की राष्ट्रभाषा को स्थापित न कर पाने मे हमें देश और विदेश मे नीचा देखना पड़ता है तथा यह देखकर तो भारी विषाद होता है कि हम आजादी के इतने वर्ष बाद भी आम जनता को अदालतों में उसकी भाषा में न्याय तक नही दे पा रहे हैं। शहर-बाजार के (उत्तर भारत में) नामपट्ट तक अंग्रेजी में लगते है तथा अंग्रेजी को आज भी दूसरी भाषा के रूप में पढ़ाया जाता है। यहां यह महत्वपूर्ण सवाल उठता है कि हम प्रादेशिक भाषाओं की तुलना में अंग्रेजी को शिक्षण में प्राथमिकता क्यों दे रहे हैं, यदि हम हिन्दी के बाद प्रादेशिक भाषाओं को ही महत्व दें, तो शायद प्रादेशिक भाषा वालो का लगाव भी हिन्दी के साथ बढ़ेगा।

पिछले दो दशकों में हिन्दी के माध्यम से विज्ञान, तकनीकी, विधि, इतिहास, समाजशास्त्र एवं अर्थशास्त्र जैसे विषयों में अनेकों प्रकाशन इस बात के प्रमाण हैं कि हिन्दी धीरे-धीरे शिक्षा और प्रशासन के क्षेत्र में अंग्रेजी का स्थान लेने की क्षमता रखती है। यह सिलसिला बराबर बढ़ना चाहिए तथा इसके साथ-साथ हिन्दी मे प्रादेशिक भाषाओ का साहित्य और लोक जीवन भी अधिकाधिक पढा जाना चाहिए। यूनेस्को के सर्वेक्षण के अनुसार भारत मे सबसे अधिक पढ़ने की आदत केरल, बंगाल और महाराष्ट्र मे पाई जाती है। यही कारण है कि राष्ट्रभाषा होने के बावजूद हिन्दी के समाचार पत्र-पत्रिकाओं की पाठक संख्या आज भी बंगला, मलयालम, मराठी, तेलगू, तमिल समाचार पत्र-पत्रिकाओं के पाठको से बहुत कम है। हिन्दी का दावा और वकालत करने वाले हिन्दी प्रदेश वाले लोगों को इस ओर ध्यान देना चाहिये। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं की सर्वाधिक प्रसार संख्या आज तथाकथित हिन्दी प्रदेशों में ही अधिक है, न कि दक्षिण-पूर्वी और पश्चिमी प्रदेशों में।

राजस्थान में तो कुछ समय पूर्व हिन्दी के प्रचारक पण्डितो ने अपना पहला शत्रु यहाँ की राजस्थानी भाषा को ही घोषित कर रखा था, जबकि हिन्दी का पहला शत्रु तो अंग्रेजी भाषा होनी चाहिये थी। खैर, यह स्थिति भी बदल रही है तथा प्रान्त में राजस्थानी प्रेमी ही आज हिन्दी को राष्ट्रभाषा का सम्मान दिलवाने में सबसे अधिक सक्रिय दिखाई देते हैं। मेरा तो यह स्पष्ट मानना है कि राष्ट्रभाषा का विकास और सम्मान मूलत: विभिन्न भारतीय भाषाओं में ही केन्द्रित है। राजस्थान में जिला सत्र-न्यायालयो तक सारी कार्यवाही हिन्दी में होती है तथा शिक्षा का माध्यम भी कमो-बेस हिन्दी है, लेकिन अंग्रेजी की मानसिकता बदलने का बहुत काम यहाँ होना शेष है। यदि सरकार यह आदेश करे कि जो अधिकारी हिन्दी में

दस्तखत नही करेगा, उसे तनख्वाह नही मिलेगी तथा लोग तनख्वाह के लिए हिन्दी सीख लें, यह स्थिति भी आदर्श नही है। होना तो यह चाहिए कि लोग स्वेच्छा से, राष्ट्रीय आवश्यकता की भावना से राष्ट्रभाषा को अपनायें। खैर, जो भी हालात है, उनमें उलझने के बजाय यह मानना ही श्रेयस्कर होगा कि हम हिन्दी को अपनी राष्ट्रीय पहचान और प्रतिष्ठा मानकर ग्रहण करें। राजस्थान सरकार का भाषा विभाग इस मानसिकता की आधार भूमि बनाने के लिए जब तक सक्रिय नहीं होगा तथा अंग्रेजी को राजकाज में अपदस्थ करने की मुहिम नही चलायेगा, तब तक बात आगे नही बढ़ेगी। वस्तुतः भाषा विभाग को जनता का समर्थन जगाकर, राजकीय स्तर पर राष्ट्रभाषा के औचित्य को मनवाने का प्रयास करना चाहिए। भाषा विभाग की वर्तमान सीमायें और अनुवाद शाखा वाला स्वरूप अब अप्रासंगिक है तथा इसे अब एक सक्रिय आन्दोलनपरक इकाई बनना चाहिए। सरकारी नौकरी की काम चलाऊ नीति से तो राष्ट्रभाषा को आगे बढ़ाने में कोई मदद नही मिल सकती।

हिन्दी दिवस पर राजस्थान मे जो थोड़ा बहुत होता है, वह प्राय केन्द्रीय सरकार के कार्यालयो, प्रतिष्ठानो तथा बैंको आदि के माध्यम से ही होता है या फिर थोड़ा बहुत लेखक, साहित्यकारो की सस्थाओ की तरफ से होता है। यह सब वर्ष मे एक दिन की औपचारिकता बन गई है। इस पूरे अभियान मे आम जनता का कोई उत्साह और भागीदारी नही रहना हमारे लिए विचारणीय प्रश्न है। सैकड़ो हिन्दी सेवी सस्थाएँ होने के बावजूद यदि हम कोई सामूहिक राष्ट्रभाषा चेतना विकसित नही कर पाये तो फिर अहिन्दी भाषियो को भला कैसे सन्तुष्ट कर पायेगे ?

19-9-1985

मत चूके चौहान

अक्सर जब-जब किसी लेखक को अथवा कलाकार को उसकी किसी रचना पर पुरस्कार अथवा सम्मान मिलता है तो प्रायः हम लोग उसे धिक्कारते और नकारते हुए नजर आते है। लेखको या बुद्धिजीवियो मे इस प्रश्न पर जितनी सिर फुटव्वल है उतनी शायद वैज्ञानिको, शिक्षाशास्त्रियो अथवा किसी अन्य वर्ग मे नही है। लेखक वर्ग अपनी हीनता से इस तरह पीड़ित है कि उसका जब कही बस नही चलता तो वह अपने और अपने मित्रो मे ही बड़े बांटने लगता है।

अभी पिछले दिनों इस संबंध में तीन खेमों के तीन प्रवक्ताओं के बयान हुए। वरिष्ठ व्यंग्य लेखक श्री हरिशंकर परसाई राज्याश्रय की इस बीमारी पर पूछते हैं—"कि लेखक पुरस्कार लेने से पहले किस से स्वीकृति ले ? कौन हाई-कमान है ? कोई नैतिक 'कोड' हमने बना कर रक्खा है क्या इस मामले में ? मुझे अगर चर्बी कांड वाले वनस्पति उद्योगपति पुरस्कार देना चाहें तो मैं किससे स्वीकृति लूं ? प्रभात शास्त्री से ? सुधाकर पांडे से ? भैरव प्रसाद गुप्त से ? राजीव गांधी से ? राजेश्वर राव से ? नम्बूदरी पाद से ? अटल बिहारी बाजपेयी से ? चन्द्रशेखर से ? मोरारजी भाई से ? कोई ऐसी उच्चस्तरीय समिति लेखकों ने बना नहीं रक्खी है, जिसके निर्णय से लेखक बंधे हों।"

पुरस्कार एवं सम्मान के इस प्रसंग पर अज्ञेय के शिष्य नन्दकिशोर आचार्य का मानना है कि—"यह बहुत आश्चर्यजनक है कि हमेशा साहित्यकार को ही यह सीख दी जाती है कि वह राज्याश्रय से दूर रहे और इस सीख के पीछे अक्सर यही मनोवृत्ति काम करती दिखती है कि साहित्यकार-कलाकार तो जैसे बिकने को तैयार ही खड़ा है। आखिर साहित्यकार के प्रति ही यह अविश्वास क्यों है ? अन्य क्षेत्रों में काम कर रही प्रतिभाओं पर न केवल यह अविश्वास नहीं है बल्कि अक्सर यह मांग की जाती है कि उन्हें दी जाने वाली सुविधाओं को बढ़ाया जाय।"

इसके ठीक विपरीत राजेन्द्र यादव कहते हैं—"लेखक को हर तरह के बाहरी दबाव से मुक्त होना चाहिये या कम से कम कोशिश तो करनी चाहिए। प्रलोभन से और दबाव से नौकरी हुई पुरस्कार हुए, ये आपकी मूल रचनात्मकता को खत्म करते हैं। पुरस्कार कोई हो तो तमीज का। मैंने अपने दोस्त को, मोहन राकेश (स्वर्गीय) को ही जैसे पुरस्कारों के लिये कैसी तिकड़मे लगाते देखा है। जैसे ठेकेदार लोग ठेका लेने के लिये लगाते हैं ना। कुछ तो फर्क होना चाहिए। साहित्कार और ठेकेदार में।"

इन दोनों बयानों से लगता है कि हरिशंकर परसाई का बयान एक सच्चाई के निकट है तथा राजेन्द्र यादव का अभिमत सम्मान और पुरस्कार की योग्यता और पात्रता से जुड़ा हुआ। जबकि अज्ञेयवादी लेखकों का सीधा-साधा आग्रह है कि पुरस्कार चाहे जहाँ से मिले, राज्याश्रय कैसा भी हो लेखकों को आगे बढ़कर लेना चाहिए। राजेन्द्र यादव कहते हैं, "एक जमाना था जब राजनेताओं से पुरस्कार लेना श्रेयस्कर लगता था। जब राजनेता थे भी पढ़े। अब आप जगन्नाथ मिश्राओं, पहाड़ियाओं और अन्तुलों से पुरस्कार लेने के लिये साहित्यकार बने हो तो दूसरी बात है। मेरा मन तो नहीं मानता।"

पुरस्कार और सम्मान के इस चक्रव्यूह पर पिछले दिनों सबसे अधिक ... समय छिड़ा था जब श्रीमती महादेवी वर्मा ने श्रीमती गांधी को अधि-

नायकवादी और तानाशाह कहकर पुरस्कार लेने से मना कर दिया किन्तु भाईबन्दो की सलाह पर आखिर ले भी लिया। और दूसरी तरफ साम्राज्यवादी एवं उपनिवेशवादी देश ब्रिटेन की प्रधानमन्त्री मार्ग्रेट थैचर से ज्ञानपीठ पुरस्कार लेते समय कोई विरोध या हील हुज्जत नही की।

इधर जब हरिशंकर परसाई को मध्य प्रदेश सरकार का शिखर पुरस्कार और नागार्जुन को उत्तर प्रदेश सरकार का लाख रुपये वाला पुरस्कार मिला तो सेठाश्रित अखबारों में नौकरी करने वाले 'क्रांतिकारी' लेखकनुमा पत्रकारो ने यह हल्ला मचाया कि अब नागार्जुन बिक गये हैं और परसाई खरीद लिये गये हैं।

लेकिन ठीक इसके विपरीत जब धर्मवीर भारती को महाराणा कुम्भा ट्रस्ट का हल्दीघाटी पुरस्कार, अज्ञेय को ज्ञानपीठ पुरस्कार, शानी को शिखर पुरस्कार, मंगलेश डबराल को ओमप्रकाश स्मृति पुरस्कार या कुछ जयप्रकाशवादियो को राधाकृष्ण पुरस्कार दिया गया तो चारो तरफ से सेठाश्रित लेखकों ने इनका हार्दिक सम्मान किया।

वस्तुतः सम्मान और पुरस्कार को लेकर लेखकों के बीच जो दोहरा मानदण्ड और धारणाएँ प्रचलित है उससे ही यह विवाद बार-बार उठता है और आपस मे गाली गलौच होती है। मेरा ऐसा सोचना है कि किसी भी लेखक का सम्मानित अथवा पुरस्कृत होना इतनी बड़ी बात नही है जितना कि पुरस्कार लेने वाले की नीयत का इम्तहान होना जरूरी है। एक लेखक यदि सरकार से पुरस्कार पाये तो भ्रष्ट हो गया और जनता के शोषण से मुनाफा बढाने वाले सेठ से पुरस्कार पाये तो श्रेष्ठ हो गया। यही दोहरा मापदण्ड हमारी प्रतिष्ठा को हर बार आघात लगाता है। इस दोहरेपन के पीछे छिपी हमारी राजनीति और स्वार्थ ही हमारी बिकाऊ मानसिकता को प्रमाणित करते है।

लेखको के बीच आज स्पष्ट दो वर्ग बने हुए हैं। एक वर्ग वह है जो एवसप्रेस टावर मे बैठकर, अमरीकी मायाजाल से समझबूझ लेकर सेठ के समर्थन मे जनता के द्वारा चुनी हुई सरकार को गिराने का आदोलन चलाता है तो दूसरा वर्ग वह है जो साम्प्रदायिकता, उपनिवेशवाद, सामाजिक न्याय की स्थापना के लिये अनवरत संघर्ष करता है। अब आप खुद फैसला करिये कि सूदखोर सेठाश्रित पुरस्कार महत्वपूर्ण है या लोकतांत्रिक सरकार का पुरस्कार। हा कोई साम्प्रदायिक एवं संकीर्णतावादी सरकार यदि दुर्भाग्य से आ जाये तो स्थिति पूरी तरह भिन्न होगी। मै एक लेखक के नाते आपातकाल मे तथा फिर जनता राज के बाद, यह बात अनुभव से तथा अधिकार से कह सकता हूँ कि सत्ता और सेठ, दोनों का मूल चरित्र दमन और शोषण का होता है। अत: लेखक को सम्मान और पुरस्कार लेने

से पूर्व अपने विवेक से निर्णय लेना चाहिए कि वह किसके हाथ मजबूत कर रहा है।

उदाहरण के लिए महादेवी वर्मा विश्व हिन्दू परिषद की पदाधिकारी रही हैं यह सगठन एक विशेष राजनीति और दर्शन रखता है। ठीक इसी तरह महाराणा कुम्भा ट्रस्ट के मालिक भगवत सिंह (भूतपूर्व उदयपुर महाराणा) भी विश्व हिन्दू परिषद का प्राणाधार हैं अतः इनका दिया सम्मान और पुरस्कार एक विशेष अपेक्षा और दर्शन से जुड़ा हुआ है। कोई भी संस्थान, किसी को आंख मीचकर लाख-पचास हजार रुपयों का पुरस्कार नहीं देता। फिर यह निजी संगठन, लोकतांत्रिक भी नहीं है तथा जनता के प्रति जवाबदेह भी नहीं है। अतः ऐसे जाली सिक्कों के पुरस्कार अपने अखाड़े के पट्ठों को दानापानी डालने के माध्यम मात्र हैं। मुझे याद है धर्मवीर भारती ने जनता सरकार के दिनों मे अटल विहारी वाजपेयी को रातोरात महाकवि बना दिया था। अब वे वाजपेयी की कविताओं के प्रति अनादर क्यों बरत रहे हैं? अब उन्हें श्रीकान्त वर्मा फिर अचानक अच्छे लगने लगे हैं। बात इतनी सी है कि लेखक, वहीं जायेगा जहां उसके हमशक्ल और हमख्याल लोग रहते हैं। यदि महादेवी वर्मा और धर्मवीर भारती, लेखक के रूप में ईमानदार हैं तो उन्हें एक ही रास्ता चुनना पड़ेगा। सत्ता और सेठ के बीच पुल बनाने का कार्य लेखक का नहीं होता। लेखक का कार्य जनता के दूरगामी हित में और मानवीय समता के लिए कलम चलाने का है।

इस परिप्रेक्ष्य में हरिशंकर परसाई, नागार्जुन, भीष्म साहनी, अमृतलाल नागर, गुलाम रब्बानी तावां, कैफी आजमी, अली सरदार जाफरी, अमृता प्रीतम का जो सम्मान हुआ उस पर इन लेखकों का संगठित चरित्र सामने आया। इनमें से किसी एक को भी हम सेठ अथवा सरकार का लेखक नहीं कह सकते। इन्होंने हर समय में सच्चाई को समझकर लेखन किया है। अतः प्रश्न पुरस्कार का नहीं अपितु, लेखक की रचनाओं में बोलते सत्य का है। सरकारें तो आती हैं और चली भी जाती हैं लेकिन सेठ का मुनाफा तो गरीब के खून पसीने से दिन दूने रात चौगुने फैलता ही रहता है। अतः सेठाश्रय का जहर लेखकों के लिए ज्यादा खतरनाक है।

नागार्जुन ने जब इन्दिरा गांधी की नीतियों को गलत समझा तो उसका विरोध भी किया, परसाई तो लगातार सत्ता और प्रतिष्ठान पर चोट करते रहते हैं, अमृता प्रीतम ने अकाली राजनीति का विरोध सहा, गुलाम रब्बानी तावां ने अलीगढ़ के साम्प्रदायिक दंगों के विरोध में पद्मश्री त्याग दी, कमलेश्वर ने धीरेन्द्र ब्रह्मचारी के योगासन कार्यक्रम का विरोध किया तो इसके पीछे लेखक की अपनी [illegible] है, विचार और मान्यता है। मैं यह जानना चाहूंगा कि अज्ञेय, जैनेन्द्रकुमार, [illegible]र भारती और ऐसे ही 'भ्रष्ट समाजवादी' सब लेखकों ने कब-कब जनता के

पक्ष मे लड़ाई लड़ी। सारे देश को अखबारी सेठ के मनोरंजन में परोसने वाले यह लेखक मूलतः संकीर्ण और सुविधाभोगी है। अपनी रंग-बिरंगी पत्रिकाओं के जाल मे नौजवान और धर्मपरायण लेखकों को फांसना इनका पेशा है। अतः कोई सम्मान अच्छा है या बुरा है इसका निर्णय सेठाश्रित साहित्यकार नही कर सकते। इसका निर्णय रचनाकार का विवेक और संघर्ष खुद करेगा।

अकादमियो के पुरस्कार पर, राज्य सरकारो तथा केन्द्र सरकार के विभिन्न पुरस्कारो एव सम्मानो पर सबसे ज्यादा तकलीफ सेठाश्रित लेखकों को होती है अतः उन्हें बार-बार कहना पड़ता है कि सेठाश्रय अच्छा है और राज्याश्रय खराब है। वस्तुत यदि उन्हें आश्रय, कृपा, दान और मेहरबानी समझा जाय तो फिर यह दोनो ही खराब हैं। लेकिन किसी एक सेठ के पुरस्कार से लोकतांत्रिक सरकार और संस्थान का पुरस्कार शायद ज्यादा उचित है। बशर्ते लेखक यह आडम्बर न मचाये कि परसाई ने पुरस्कार लिया जो तो बुरा है और मैं ले रहा हू वह अच्छा है। इस निर्णय के साथ हमे पुरस्कार की राजनीति, धन का स्रोत और उसका वैचारिक आधार देखना समझना चाहिये। इतिहास गवाह है कि लेखको को बाकायदा राज्याश्रय था लेकिन आज जनता मे उन्ही का सम्मान शेष है जिन्होने अपने विचार सिद्धान्त और साहस को नही बेचा। लेखको में आज सबसे ज्यादा राज्याश्रय का हल्ला वही मचा रहे हैं जो या तो सेठ के खूटे से बधे हैं या फिर राज्य की कृपा सूची से जुड़ना चाहते हैं। परसाई ने ठीक ही कहा है कि "गाव का सबसे दुराचारी सरपच ही यह कहता फिरता है कि लोगो का चाल-चलन ठीक नही है। मैं यह नही कहता कि सत्ता से समझौता करो बिल्कुल मत करो। परम स्वतन्त्र रहो, मगर यह प्रश्न बहुत जटिल है और बहुत सोच समझ एव विवेक की माग करता है। जिसकी औकात नही है, वह दावा मत करो।"

9-8-1985

अलमारियों का सपना

जयपुर मे इन दिनो तीसवां अखिल भारतीय पुस्तकालय सम्मेलन आयोजित है। देशभर से पुस्तकालय और सूचना सेवा से जुड़े कोई 500 से अधिक पुस्तक विज्ञानी इसमें भाग ले रहे हैं। इससे पहले भी जयपुर मे यह राष्ट्रीय सम्मेलन आजादी से पूर्व एक बार हो चुका है।

के लेखकों की भी है। अतः आवश्यकता यह बनती है कि हम पुस्तकालय में किसका संग्रह कर रहे हैं? हमें यह बात निश्चय ही जाननी होगी कि पुस्तकालय का अर्थ हर प्रकाशित पुस्तक का संग्रह मात्र नहीं होता, अपितु श्रेष्ठ उपलब्ध ज्ञान का संग्रह होना है। अतः हमें पुस्तकालय आन्दोलन की जगह 'पुस्तक आन्दोलन' बनाना चाहिए।

मैं राजस्थान का उदाहरण देकर ही कुछ बातें कहना चाहूँगा। मैं यहाँ पुस्तकालय विज्ञान की उच्च तकनीकी बातों की चर्चा न करके यह निवेदन करना चाहूँगा कि पुस्तकों को समाज और राष्ट्र की मूल शिक्षा और सांस्कृतिक चेतना से जोड़कर देखा जाये।

राजस्थान मे एक समय था, तब राजा-महाराजा अपने यहाँ एक पोथीखाने का निर्माण करते थे। आज यही पोथीखाने हमारे विगत इतिहास को जानने के माध्यम हैं। लेकिन आजादी के बाद से अब तक यह देखा गया है कि जिला-स्तर पर एक सरकारी पुस्तकालय है तथा स्कूल, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय अथवा कुछ सार्वजनिक संस्थाओं के अपने-अपने पुस्तकालय हैं। इन पुस्तकालयों में जिस तरह पुस्तकों का समावेश होता है, वह एक अलग दुखद कहानी है, जिसे भी हमें पुस्तकालय विकास के सन्दर्भ में परखना होगा। पुस्तकों के बढ़ते दाम, खरीद में कमीशन की प्राथमिकता, पुस्तकों की खरीद के सरकारी बजट—यह सब मायाजाल इतना जटिल है कि हम अच्छा पुस्तकालय चाह कर भी नहीं बना सकते।

जहाँ एक तरफ देश में साक्षरता का अभाव है, वहाँ दूसरी तरफ लोगों की सामाजिक और आर्थिक हालत इस तरह की है कि पुस्तकों के प्रति जनता का रिश्ता ही स्थापित नहीं हो पाता। फिर ऐसे लोग तो बहुत कम हैं जो पुस्तकालयों के सदस्य बनकर पुस्तकालयों से पुस्तकें लाकर पढ़ते हों। हाँ! एक सीमित वर्ग अथवा शिक्षा संस्कृति से जुड़ा वर्ग अपने कौशल विस्तार के लिए पुस्तकें अवश्य पढ़ता है। इस समीकरण में अच्छी पुस्तकों का प्रकाशन नहीं हो पाता तथा जनरल बुक्स की जगह लोग पाठ्यक्रम की पुस्तकें छापने का काम अधिक करते हैं। इसके बाद पुस्तकालयों में रिमाइन्डर बुक्स की जिस तरह खरीद की जाती है, उसकी गलित तो और भी अधिक शर्मनाक है। जिस समाज में पुस्तक प्रकाशन एक व्यावसायिक उद्योग बन जाये तथा कमीशन से संचालित गोरखधन्धा बन जाये वहाँ पुस्तकालय विकास का आन्दोलन सम्पूर्ण साक्षरता के बाद भी आ जायेगा, इसकी हमें कोई गारण्टी नहीं लगती।

आप आँकड़े उठाकर देखें तो पायेंगे कि पुस्तकालयों में अंग्रेजी साहित्य की भरमार है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि जैसे हमारे देश की विभिन्न भाषाओं में कुछ भी अच्छा नहीं लिखा जा रहा। फिर इसके बाद उपन्यास, कविता, कहानी

सम्मेलन में परम्परा के अनुसार सभी आदरणीय वक्ताओं ने देश-विदेश के उदाहरण देकर यह समझाने की कोशिश की कि पुस्तकालय संस्कृति के केन्द्र होते हैं, सभ्यता के संग्रहालय होते हैं, ज्ञान के भण्डार होते हैं, आदि-आदि। लेकिन हम यहाँ सारी स्थिति को यथार्थ की नजर से देखने का प्रयास नहीं करते। अतः आइये हम वास्तविकता के अन्धेरे में झांक कर देखें कि पुस्तक, पाठक और लेखक की पूरी दुनिया अब किस दिशा की ओर जा रही है।

सम्मेलन का पूरा आधार सरकार, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और कुछ राजा-रजवाड़े या सम्पन्न घरानों से उपजे पुस्तक प्रेम पर केन्द्रित था। उच्च शिक्षा के संस्थानों में पुस्तकालय के विकास पर सम्मेलन की चिन्ता अधिक थी, जबकि देश की आवश्यकता और भारतीय भाषाओं की पुस्तकें और सूचना सेवा पर नहीं के बराबर बात की गई। सम्मेलन की सारी चर्चाएँ अंग्रेजी में हुई तथा उद्घाटन सत्र में एक बार भाषणों के बीच उस समय तालियाँ बजी जबकि पुस्तकालय कर्मचारियों की वेतनवृद्धि की बात कही गई। इस स्थिति से हमारी पूरी मानसिकता दरअसल बेनकाब हो जाती है। इसके जन्मजात कई कारण हैं। आज भी हमारे देश में अंग्रेजी की पुस्तकों का आदर अधिक है तथा सोचने-समझने का पूरा तरीका एक बौद्धिक पराभव से गुजर रहा है। पुस्तकालयों में अधिकांश खपत अंग्रेजी पुस्तकों की होती है और अन्य भारतीय भाषाओं का साहित्य उनकी तुलना में कोई स्थान नहीं रखता।

पुस्तकालय अध्यक्ष या पुस्तकालय में काम करने वाले कर्मचारियों की सेवा स्थितियाँ इतनी दयनीय है कि उनमें खुद के मन में पुस्तकों के प्रति कोई आदर का भाव नहीं रहता। नौकरी के लिए नौकरी करते हुए पुस्तको की चौकीदारी करने का काम ही अब प्रायः अधिक हो रहा है। पाठकों की जरूरत और लेखकों से समन्वय की बात तो दूर रही अब पुस्तकालयों में केवल सरकारी धन को खपाने की जोड़-तोड़ का माहौल हो चारों तरफ विकसित होता नजर आता है।

कुछ लोगों का यह मानना है कि कर्नाटक, तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल और केरल जैसे राज्यों में पुस्तकालय अधिनियम लागू हैं तथा वहाँ पुस्तकालय आन्दोलन की जड़ें बनती जा रही हैं। लेकिन मुझे लगता है कि पुस्तकालय एक्ट लागू करने से ही किसी समाज में पुस्तकों के प्रति लोगों का आकर्षण या प्रेम जाग्रत नहीं होता। इन राज्यों में पुस्तकों के प्रति प्रेम की परम्परा का आधार मूलतः वहाँ की सांस्कृतिक चेतना और लेखकों का व्यापक जनाधार है। रवीन्द्रनाथ टैगोर की पुस्तकें किसी सरकारी अधिनियम के लागू होने से नही पढ़ी जाती, अपितु टैगोर की व्यक्तिगत लोकप्रियता के कारण पढ़ी जाती हैं। यही स्थिति प्रेमचन्द, भारती, बंकिमचन्द्र, कन्हैयालाल, माणकलाल मुंशी, अमृता प्रीतम या अन्य भारतीय भाषाओं

प्रकाशमियों, विश्वविद्यालयों की प्रकाशन शाखाएँ, विभिन्न संस्थानों के प्रकाशन आज जिस स्तर और भर्ती की प्रक्रिया से आ रहे हैं, उससे उनके गोदाम भरे पड़े हैं। करोड़ों रुपयों का जिस तरह अपव्यय हो रहा है उस पर भी पुस्तकालय सेवा में जिम्मेदार भाइयों को विचार करना चाहिए।

इसके अलावा हमें अल्पमोली पुस्तक योजना पर काम करना चाहिए। आज भारतीय विद्याभवन, सस्ता साहित्य मण्डल, गीता प्रेस गोरखपुर, हिन्दी साहित्य समिति, लखनऊ और सोवियत संघ के प्रकाशनों की बानगी आप को प्रायः थोड़े बहुत पढ़े-लिखे व्यक्ति के घर मिल जायेगी। अच्छे और आवश्यक साहित्य को सस्ते और सुन्दर ढंग से छापकर देने की एक केन्द्रीय व्यवस्था हमारे लिए बहुत जरूरी है और यह काम समानान्तर रूप से सभी भारतीय भाषाओं में किया जाना चाहिए।

पुस्तकालयों के सुरुचिपूर्ण भवन पुस्तकों की वैज्ञानिक सुरक्षा और पाठकों को आकर्षित करने के कार्यक्रम जितने अधिक बनाये जायेंगे, उतना ही अधिक पुस्तकालय कर्मियों का सम्मान समाज में बनेगा। जो लोग अपनी ज्ञान की धाक जमाने के लिए पुस्तकों की खरीद करते हैं, उनसे अधिक चिन्ता हमें समाज के उन लोगों की करनी चाहिए जो वास्तव में अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना चाहते हैं। दरअसल में हमें बचपन से ही विद्यार्थी को पुस्तकों के प्रति लगाव और महत्व को समझाना चाहिए। अधिकांश स्कूलों के पुस्तकालय प्रायः विद्यार्थियों से दूर रहते हैं तथा पुस्तकों पर तथा नये ज्ञान के बिन्दुओं पर कभी कोई बातचीत ही नहीं होती। ऐसी स्थिति में पुस्तक ज्ञान का सपना केवल अलमारियों में बन्द ही पड़ा रह जाता है।

देश के करोड़ों विद्यार्थी अथवा साक्षर व्यक्ति यदि एक-एक पुस्तक को भी गोद ले लें तो शायद पुस्तकों के प्रति आदर का भाव समाज में फैलाया जा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि श्रेष्ठ पुस्तकें, सस्ती और सुन्दर सामग्री के साथ बड़ी संख्या में प्रकाशित की जाये। आज हमारे देश में अपने ही आकर्षण के बलबूते पर सबसे अधिक पुस्तकों की खरीद आम आदमी द्वारा सोवियत संघ से प्रकाशित पुस्तकों की होती है। आखिर यह क्या रहस्य है जिसे हम तोड नहीं सकते?

हम अन्त में यह कहना चाहेंगे कि आज देश में पुस्तकालय के सम्मान से पूर्व पुस्तक, पाठक और लेखक का सम्मान और पहचान बनाना जरूरी है। अखिल भारतीय पुस्तकालय संघ एक पुराना संगठन है तथा उसे इस काम में भी पहल करनी चाहिए। राजस्थान में विश्वविद्यालयों के पुस्तकालय आज सबसे अधिक सम्पन्न हैं लेकिन विश्वविद्यालय, महाविद्यालय अथवा स्कूल के विद्यार्थियों की संख्या के मुकाबले कितने कम विद्यार्थी पुस्तकालय का उपयोग करते हैं, यह तथ्य जान कर

पुस्तकों की भी इतनी भरमार हो जाती है कि समाजविज्ञान के अन्य महत्त्वपूर्ण वर्गों का साहित्य तो वहां पहुंच ही नहीं पाता । बच्चों के लिए, महिलाओं के लिए, श्रमिक वर्ग के लिए, घर-गृहस्थी की संस्कृति के लिए पुस्तकें बहुत कम मिलती हैं । प्रकाशक कहता है कि हम तो वही छापेंगे, जिसमें हमें दो पैसे मिलें ।

पुस्तकालय आन्दोलन के विकास में यह दो पैसे मिलने वाली धारणा आज सबसे बड़ी बाधा है । सरकार के बजट पर निर्भर होकर हम लोगों में पुस्तकों के प्रति कोई उत्साह नहीं जगा सकते । पुस्तकालयों का सर्वे करने पर पता चलता है कि हमारी पुस्तकें वर्षों से धूल चाट रही हैं तथा उन्हें कोई पाठक नहीं मिलता । पुस्तकालय में जो अधिकांश लोग आते हैं, वह वाचनालय में अखबार या पत्र-पत्रिकाएँ पढ़कर ही घर लौट जाते हैं, पुस्तकें लेकर पढ़ने की चिन्ता या शौक प्राथमिकता बहुत कम लोगों के पास है । सौ में से चार आदमी यदि कोई उपन्यास या शोध के लिए आवश्यक दुर्लभ ग्रन्थ लेकर पढ़ भी लेते हैं तो उससे पुस्तकालयों की अपार सम्पदा का कोई महत्व जनता में नहीं बनता ।

इसके विपरीत विज्ञान, प्रौद्योगिकी और तकनीकी पुस्तकों के संग्रह के प्रति लोगों का झुकाव ज्यादा है, क्योंकि इन पुस्तकों के अभाव में व्यक्ति अपने प्रयोगों को नया रूप नहीं दे सकता ।

इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि हम पुस्तकालय के गठन को ही आमूलचूल बदलें । आज अधिकांश लायब्रेरियन ऐसे हैं जो कभी कोई पुस्तक नहीं पढ़ते, पाठकों की इच्छा का सर्वेक्षण नहीं करते तथा पुस्तक खरीदते समय उसका उचित मूल्यांकन नहीं कर पाते ।

इस छोटी-सी बात में कुछ सुझाव देना चाहूँगा, ताकि पुस्तक विकास के आन्दोलन को जनशिक्षा और मनोरंजन से जोड़ा जा सके । इस दिशा में राज्य सरकार को चाहिए कि वह हर पचायत स्तर पर, स्कूल स्तर पर, संस्थान स्तर पर छोटे-छोटे मानक पुस्तकालय स्थापित करे । इसके साथ ही समाज की आवश्यकता और बदलाव को ध्यान में रखकर विभिन्न विषयों की पुस्तकें प्रादेशिक भाषाओं में सरल मुहावरे के साथ लिखाई जाकर प्रकाशित की जाये । इसके अलावा, लेखकों और पाठकों के संयुक्त मच हर स्तर पर बनाये जायें जो समय-समय पर मिल-बैठकर पुस्तकालयों की सम्पन्नता के लिए काम करें । लेकिन इन बातों के पहले सरकार और सम्पन्न वर्गों को यह चेष्टा करनी होगी कि वह कागज की कीमत, प्रकाशन, शैली, बिक्री और कमीशन की दूषित शैली को समाप्त करने का प्रयास करे ।

अभी गत वर्ष राजस्थान में एक पुस्तक विकास परिषद का गठन किया गया पर दुर्भाग्य से यह परिषद भी सरकारी फाइलों में बन्द है । हिन्दी ग्रन्थ

राजेन्द्रसिंह बेदी के इस वक्तव्य से आप उनके दिल और दिमाग को भली-भांति समझ सकते हैं। वे जहां एक लेखक थे वहां बीवी-बच्चों वाले भी थे। वे जहां एक फिल्म लेखक एवं निर्माता थे वहां किसी पैसे वाली विधवा और पैसे वाले पिता की तलाश में भी रहते थे ताकि इनकी बुद्धि और उनका पैसा मिलकर दुनिया को बदल सकें। लेकिन जीवनभर ऐसा नहीं हो पाया तथा यह दुनिया रत्तीभर नहीं बदली जा सकी।

राजेन्द्रसिंह बेदी प्रारम्भ में डाकतार विभाग में बाबू थे लेकिन एक कहानीकार के रूप में इनका नाम बराबर जाना जाने लगा था। लेकिन देश और दुनिया में इनकी धाक जिस उपन्यास से जमी उसका नाम है—एक चादर मैली-सी। 1965 में केन्द्रीय साहित्य अकादमी ने इसे पुरस्कृत किया था। अकादमी के अनुसार—बेदी का साहित्यिक जगत में आविर्भाव उस समय हुआ जब उर्दू कथा साहित्य में सामन्ती दृष्टि और रूमानियत का बोलबाला था। उनकी रचनाओं में जहां एक ओर गहरा इंसानी सरोकार मिलता है वहां उन्होंने भाषा को रूमानियत के जालों से बाहर निकालकर उसे मामूली आदमी के सपनों का कारगर औज़ार बनाया। बेदी आकाशवाणी में भी रह और आखिरकार 1948 में फिल्म उद्योग में जा बसे। गर्मकोट, मिर्जा गालिब, देवदास, मधुमति और अनुराधा जैसी महत्त्वपूर्ण फिल्में उनके योगदान का ही परिणाम थीं। दस्तक और फागुन फिल्म भी उन्होंने बनाई। वे एक खुले दिल और दिमाग के इंसान थे तथा बहुत जिन्दादिल थे।

राजेन्द्रसिंह बेदी के बहुचर्चित उपन्यास 'एक चादर मैली-सी' की पृष्ठभूमि को लेकर वह लिखते हैं—"हमने कितनी दुनिया देखी है [illegible] देश [illegible] पर इस धरती पर एक ऐसा देश भी है जो सबसे श्रेष्ठ है। यह देश है पंजाब। [illegible] एक देश है जिसकी धरती में से आठों पहर लोबान (सुगन्धित गोंद) की गंध उठती है। जिसका स्पर्श बदन में स्वास्थ्य की लहरें पैदा करता है। [illegible] पड़ोसी है और धरती की हरी ओढ़नी पर सीतारों [illegible] है। उसकी नदियां तो एक ओर... उसके नाले तक अनुराग से परिचित हैं।

जहां के पुरुष सख्त हैं और स्त्रियां सख्ततर। वे स्वयं ही [illegible] हैं और दूसरे ही क्षण विवश होकर उन्हें मोड़ डालते हैं और फिर [illegible] करते हैं। उनसे कोई पाप होने से पहले ही [illegible] उन्हें क्षमा कर देती है [illegible] उन्होंने बहुत कष्ट भोगे हैं। उत्तर और पश्चिम के [illegible] लेकिन उन्होंने अपनी औलाद से भी अधिक [illegible] दूसरों को हर एक ओर [illegible]। उन्होंने अपनी [illegible] दे दी लेकिन पूरे देश को [illegible] के लिये वे [illegible] के बीज देते हैं और फिर उस मिट्टी का [illegible] देते हैं। [illegible] जादूगर हैं वे, पंजाब के लोग।

तो हमें भारी दुख ही होगा। पुस्तकालय विज्ञान की महत्ता दिनोंदिन प्रबल हो य चेष्टा उन सबकी होनी चाहिए जो पुस्तक को पहचानते हैं। हमें यह भी लोगों को समझाना होगा कि जब हम माँग कर खाते नहीं है, माँग कर पढ़ते क्यों हैं? इस कहावत को बदलने के लिए आवश्यक होगा कि हम लोगों को पुस्तकालय जाने के लिए प्रेरित करें तथा गाँव-गाँव में मानक पुस्तकालयों की स्थापना कर दें तथा हर विकास योजना के साथ पुस्तकालय की अनिवार्यता को जोड़ दें।

31-3-1955

एक चादर मैली-सी

राजेन्द्रसिंह बेदी के इस वक्तव्य से आप उनके दिल और दिमाग को भली-भांति समझ सकते हैं। वे जहाँ एक लेखक थे वहाँ बीवी-बच्चों वाले भी थे। वे जहाँ एक फिल्म लेखक एवं निर्माता थे वहाँ किसी पैसे वाली विधवा और पैसे वाले पिता की तलाश में भी रहते थे ताकि इनकी बुद्धि और उनका पैसा मिलकर दुनिया को बदल सकें। लेकिन जीवनभर ऐसा नहीं हो पाया तथा यह दुनिया रत्तीभर नहीं बदली जा सकी।

राजेन्द्रसिंह बेदी प्रारम्भ में डाकतार विभाग में बाबू थे लेकिन एक कहानीकार के रूप में इनका नाम बराबर जाना जाने लगा था। लेकिन देश और दुनिया में इनकी धाक जिस उपन्यास से जमी उसका नाम है—एक चादर मैली-सी। 1965 में केन्द्रीय साहित्य अकादमी ने इसे पुरस्कृत किया था। अकादमी के अनुसार—बेदी का साहित्यिक जगत में आविर्भाव उस समय हुआ जब उर्दू कथा साहित्य में सामन्ती दृष्टि और रूमानियत का बोलबाला था। उनकी रचनाओं में जहाँ एक ओर गहरा इन्सानी सरोकार मिलता है वहाँ उन्होंने भाषा को रूमानियत के जालों से बाहर निकालकर उसे मामूली आदमी के सपनों का कारगर औजार बनाया। बेदी आकाशवाणी में भी रहे और आखिरकार 1948 में फिल्म उद्योग में जा बसे। गर्मकोट, मिर्जा गालिब, देवदास, मधुमति और अनुराधा जैसी महत्वपूर्ण फिल्में उनके योगदान का ही परिणाम थीं। दस्तक और फागुन फिल्म भी उन्होंने बनाई। वे एक खुले दिल और दिमाग के इन्सान थे तथा बहुत जिंदादिल थे।

राजेन्द्रसिंह बेदी के बहुचर्चित उपन्यास 'एक चादर मैली सी' की पृष्ठभूमि को लेकर वह लिखते हैं—"हमने कितनी दुनिया देखी है, कितने युग... देश....पर इस धरती पर एक ऐसा देश भी है जो सबसे श्रेष्ठ है। यह देश है पंजाब। वही तो एक देश है जिसकी धरती में से आठों पहर लोबान (सुगन्धित गोंद) की गंध आती है। जिसका स्पर्श बदन में स्वास्थ्य की लहरें पैदा करता है। उसके पर्वत, आकाश के पड़ौसी हैं और धरती की हरी ओढ़नी पर वीरानी के रंग का एक भी तो छींटा नहीं है। उसकी नदियां तो एक ओर....उसके पोखर तक अनुराग से परिचित हैं।

जहां के पुरुष अक्खड़ हैं और स्त्रियां भक्खड़। वे स्वयं ही अपने कानून बनाते हैं और दूसरे ही क्षण विवश होकर उन्हें तोड़ डालते हैं और फिर नये कानून गढ़ने लगते हैं। उनसे कोई पाप होने से पहले ही देवीमाता उन्हें क्षमा कर देती है क्योंकि उन्होंने बहुत कष्ट झेले हैं। उत्तर और पश्चिम के उन पर सैकड़ों आक्रमण हुए लेकिन उन्होंने अपनी फौलाद से भी अधिक कड़ी छातियों को ढाल बना लिया और दुखों की हर एक चोट उन पर सहली। उन्होंने अपनी माताओं-बहनों की इज्जत दे दी लेकिन पूरे देश की माताओं-बहनों के लिये वे किसी भी समय सोने को मिट्टी में रौंद देते हैं और फिर उस मिट्टी को खंगालकर उसमें से कुंदन पैदा कर लेते हैं। अजीब जादूगर हैं वे, पंजाब के लोग।

न जाने ये किस मिट्टी से बने हैं। जमती हुई बर्फों और तपती हुई रेतों में वे बस सकते हैं। जहां संसार के अन्य लोग दूसरों की ही नुक्ताचीनी में लगे रहते हैं वहां पंजाबी ही हैं जो अपने आप पर भी हँस सकता है। वह अच्छा मित्र और बुरा शत्रु है। जहां भी तुम्हें कुछ लोग ऊंची आवाज में हंसते हुए सुनाई दें, वहां अवश्य ही कोई पंजाबी होगा। क्योंकि वह दुनिया का मातम करने नहीं आया और न ही सूखी दार्शनिकता उसके जीवन का उद्देश्य है। वह जो भीतर से है वही बाहर से। उसके जीवन का रहस्य ही यह है कि कोई रहस्य नहीं। वह एक ऐसा पौधा है जो संसार की किसी भी धरती पर पनप सकता है। उसकी अपनी धरती की विशालता और उसकी दृष्टि उसके हृदय में समा गई है, और हवाओं की मस्ती, मस्तक में।

रानी ! पंजाबी कभी नाश नहीं हो सकता। न जाने उसने कौन-सी अमर-कथा सुनी है जिसमें वह ऊंघ भी गया और पा-भी गया। पी-भी गया और छलका भी गया। जीवन के रोने-धोने से उसकी तपस्या पूर्ण नहीं होती। हां, हंसने-खेलने, खाने और पहने में ही उसका मोक्ष है।"

पंजाब और पंजाबियत का यह फलसफा ही राजेन्द्रसिंह बेदी के सोच-समझ का जीवन्त दायरा है। अपने समाज और संसार को इसी गहराई और बेबाकी से उन्होंने देखा तथा किसी को अच्छा लगे या बुरा उन्होंने अपनी सामाजिक सच्चाइयों को नंगा करने मे कभी कोई कोर-कसर बाकी नही रखी।

उनके स्वकथ्य में 'रानी' का संबोधन एक चादर मैली-सी (उपन्यास) के प्रमुख पात्र का नाम है। पंजाब का सिख जाट परिवार वह भी बहुत गरीब एवं पिछड़ा परिवार। हजूरसिंह का बेटा तिलोका। इक्का चलाता है। दिन-भर भांत-भांत की मजूरी उठाता है। शहर के दादा मेहरबानदास जैसे लोगों की हाजरी भी वह भरता था। कभी-कभार कुछ भोली-भाली सवारियों को वह अपने तांगें में मेहरबानदास की धर्मशाला में धकेल देता था। इसी कुचक्र मे उसे यदा-कदा माल्टे की बोतल भी पीने को मिल जाती थी। गांव का यही छोटा-सा चकाचक जीवन था। जिस दिन तिलोका को कोई अच्छी सवारी मिल जाती वह उस रात माल्टे की बोतल लेकर घर आता और भरपूर उधम मचाता। रानी (उसकी पत्नी) को शराब से भारी चिढ़ थी। पति-पत्नी बुरी तरह लडते-भिड़ते, गाली-गलौच करते और अपनी पैबंदो से भरी जिंदगी को सीने से लगाये रहते। रानी तिलोका से तंग आ चुकी थी। तीन छोटे-छोटे बच्चे। अंधा ससुर। अनपढ़ और अलमस्त लोगों का माहौल। बस घर में (तिलोका का छोटा भाई) की हलचल रहती थी। जब रानी, बहू बनकर थी, तब मंगल बहुत छोटा था तथा रानी ने उसे मां का प्यार दिया था तथा आंचल का दूध भी पिलाया था।

एक दिन लड़ाई-झगड़े के बीच तिलोका की हत्या हो जाती है। भोली-भाली सवारियों को मेहरबानदास की धर्मशाला में धकेलने के चक्कर में। रानी का तार-तार सपना भी टूट जाता है। समाज, जाति, गली-मोहल्ले के लोग और गांव के सरपंच आखिर यह तय करते हैं कि अब रानी का विवाह उसके देवर मंगल से कर दिया जाय।

आप कल्पना करिये जिस देवर को उसकी भाभी ने बच्चे की तरह अपना दूध पिलाकर बड़ा किया हो उसी से पति-पत्नी के रिश्ते बंधना कितनी बड़ी त्रासदी हो सकती है। मंगल और रानी ने लाख मिन्नतें कीं, उम्र और हालात की मजबूरियां बताईं लेकिन निर्मम समाज ने उनकी एक न सुनी। मंगल को बहुत पीटा गया—मारा गया और जबरन छोटे उम्र के देवर की बड़ी उम्र की भाभी (मंगल और रानी) की शादी कर दी गई। रिश्तों की यह मैली चादर अपने भीतर जिस पीड़ा और यथार्थ का संसार छिपाये हुए है उसकी कल्पना एक सहृदय व्यक्ति ही कर सकता है। 'ईडीपस काम्प्लेक्स' की तरह इस कथावस्तु को राजेन्द्रसिंह बेदी ने जिस मार्मिकता से प्रस्तुत किया है उसे पढ़कर मन की सभी [illegible] गुम जाती है। यों तो हमारे विभिन्न कबीलों में तथा समाज में आज भी बड़े भाई की मौत पर छोटे भाई से शादी का सामाजिक सिलसिला जारी है—लेकिन इस रिश्ते के साथ और पीछे एक स्त्री और पुरुष का जो मनोविज्ञान जुड़ा है उसे समझ लेना ही हमारी सबसे बड़ी उपलब्धि है। 'एक चादर मैली सी' में रानी और मंगल की (शादी का आदेश मिलने के बाद) मनोदशा पढ़कर दिल दर्द और पीड़ा से भर जाता है। तथा किस तरह यह असमंजस धीरे-धीरे स्थितियों के सहयोग से परिस्थितियों के रिश्ते में बंध जाता है—उसे राजेन्द्रसिंह बेदी ने एक [illegible] बना दिया है। इस मार्मिक उपन्यास में पंजाब के ग्रामीण जीवन और जीवन्त पात्रों का ऐसा सजीव चित्रण हुआ है जिसे पढ़कर प्रसिद्ध कहानीकार कृश्नचन्दर ने बेदी से कहा था— 'कमबख्त तुम नहीं जानते, तुमने क्या लिख दिया है।'

बेदी ने छोटी-छोटी चीज़ों के बारे में लिखा लेकिन उन्होंने इन [illegible] किस्सों की आड़ में कुछ बुनियादी मानवीय समस्याओं का उद्घाटन किया और इनके चरित्रों का मूल्यांकन भी किया जैसा कि दूसरे उर्दू कथाकारों में नहीं पाया जाता।

उनकी कहानियां अपना दुख मुझे दे दो, गरमकोट, [illegible] बिकाऊ है, [illegible], [illegible] और लाजवन्ती उर्दू कथा साहित्य के ही नहीं वरन् भारतीय कथा साहित्य में भी अपना [illegible] स्थान रखती हैं। बेदी ने [illegible] में स्वीकार किया है कि उन्होंने [illegible] हैं [illegible] है [illegible]। [illegible]

न जाने ये किस मिट्टी से बने हैं। जमती हुई बर्फों और तपती हुई रेतों में वे बस सकते हैं। जहां संसार के अन्य लोग दूसरों की ही नुक्ताचीनी में लगे रहते हैं वहां पंजाबी ही हैं जो अपने आप पर भी हँस सकता है। वह अच्छा मित्र और बुरा शत्रु है। जहां भी तुम्हें कुछ लोग ऊंची आवाज में हंसते हुए सुनाई दें, वहां अवश्य ही कोई पंजाबी होगा। क्योंकि वह दुनिया का मातम करने नहीं आया और न ही सूखी दार्शनिकता उसके जीवन का उद्देश्य है। वह जो भीतर से है वही बाहर से। उसके जीवन का रहस्य ही यह है कि कोई रहस्य नहीं। वह एक ऐसा पौधा है जो संसार की किसी भी धरती पर पनप सकता है। उसकी अपनी धरती की विशालता और उसकी दृष्टि उसके हृदय में समा गई है, और हवाओं की मस्ती, मस्तक में।

रानी ! पंजाबी कभी नाश नहीं हो सकता। न जाने उसने कौन-सी अमर-कथा सुनी है जिसमें वह ऊंघ भी गया और पा-भी गया। पी-भी गया और छलक भी गया। जीवन के रोने-धोने से उसकी तपस्या पूर्ण नहीं होती। हां, हंसने-खेलने, खाने और पहने में ही उसका मोक्ष है।"

पंजाब और पंजाबियत का यह फलसफा ही राजेन्द्रसिंह बेदी के सोच-समझ का जीवन्त दायरा है। अपने समाज और संसार को इसी गहराई और बेबाकी से उन्होंने देखा तथा किसी को अच्छा लगे या बुरा उन्होंने अपनी सामाजिक सच्चाइयों को नंगा करने में कभी कोई कोर-कसर बाकी नहीं रखी।

उनके स्वकथ्य में 'रानी' का संबोधन एक चादर मैली-सी (उपन्यास) के प्रमुख पात्र का नाम है। पंजाब का सिख जाट परिवार वह भी बहुत गरीब एवं पिछड़ा परिवार। हजूरसिंह का बेटा तिलोका। इक्का चलाता है। दिन-भर भांत-भांत की मजूरी उठाता है। शहर के दादा मेहरबानदास जैसे लोगों की हाजरी भी वह भरता था। कभी-कभार कुछ भोली-भाली सवारियों को वह अपने तांगे में मेहरबानदास की धर्मशाला में धकेल देता था। इसी कुचक्र में उसे यदा-कदा माल्टे की बोतल भी पीने को मिल जाती थी। गाव का यही छोटा-सा चकाचक जीवन था। जिस दिन तिलोका को कोई अच्छी सवारी मिल जाती वह उस रात माल्टे की बोतल लेकर घर आता और भरपूर उधम मचाता। रानी (उसकी पत्नी) को शराब से भारी चिढ़ थी। पति-पत्नी बुरी तरह लड़ते-भिड़ते, गाली-गलौच करते और अपनी [illegible] भरी जिंदगी को सीने से लगाये रहते। रानी तिलोका से तंग आ चुकी [illegible] छोटे-छोटे बच्चे। अंधा ससुर। अनपढ़ और अलमस्त लोगों का [illegible] मंगल (तिलोका का छोटा भाई) की हलचल रहती थी। जब [illegible] आयी थी, तब मंगल बहुत छोटा था तथा रानी ने उसे मां का [illegible]

अप

यह बात किसी ने नहीं कही कि किताबें बुरी चीज हैं पढ़ने से क्या फायदा अथ
किताबों से दुनिया थोड़े ही बदल जाएगी।

वस्तुत यह सारा प्रसग मुझे इसलिए याद आ रहा है कि पिछले दि
जयपुर में 'किताबघर' नामक एक संस्थान का उद्घाटन हुआ। यों तो अब त
अनगिनत उद्घाटन विमोचन, शिलान्यास स्वागत और श्रद्धांजलि सम्मेलन देखे गुने
है लेकिन किताबों की दुनिया का समारोह देख कर मुझे कई-कई बार मेरी चेतना
के जीवित होने का अहसास हुआ। वे सब कृतियाँ याद हो आई जिन्होंने कि मानव
समाज को नया स्वरूप दिया है।

बात यों भी रोचक है कि राजस्थान अपने संस्कार से आज भी रूढ़िवादी
और जातीय व्यवस्थाओं का शिकार एक अल्प विकसित राज्य है। एक समय था
जब यहाँ छापाखाना (प्रेस) लगाने के लिए शासक से अनुमति लेनी पड़ती थी तो
अखबार अथवा पुस्तक छापना तो बड़े साहस का काम था। यदि कहीं कुछ पुस्तकें
मिलती भी थी तो उनमें धर्म राजा महाराजाओं के शौक और सामान्य घर-गृहस्थी
के किस्से वर्णित होते थे। दूसरे राज्य में अथवा देश में क्या हो रहा है इसकी
जानकारी मिलना तो यहाँ दुर्लभ था। यदाकदा कोई व्यक्ति जब बाहर से लौटते
किसी पुस्तक को ले आता था तो अन्य साथी उसे चोरी-छिपे माग-माग कर
पढ़ते थे।

उस समय स्वाधीनता संग्राम और देशी रियासतों से मुक्ति का दोहरा-
आन्दोलन चल रहा था। ज्ञान और विज्ञान का समन्वय स्थापित नहीं हो पाता था
और सामाजिक न्याय तथा प्रगतिशील मूल्यों का साहित्य तो किसी-किसी को तपस्या
से ही पढ़ने को मिलता था। समाजवादी सपनों की किताबें लिखना, मिलना, पढ़ना
और प्रकाशित करना तो ठीक ऐसे ही था जैसे कि क्रान्ति के लिए हथियार और
गोला बारूद प्राप्त करना।

सभी तरफ एक सीमित ज्ञान की असीमित दीवार खड़ी थी और राज्य सत्ता,
पूँजी एव विज्ञान पर आधारित मान्यताओं को बेमन से देखा जाता था। इस दुनिया
में भाकने पर इतना अवश्य लगता है कि अब हम आजाद हो गए हैं तथा एक
राजनैतिक इकाई के रूप में स्वतन्त्र हो गए हैं।

लेकिन किताब की जिस दुनिया में हम रहते हैं वहाँ पर आज भी 70 प्रतिशत
लोग अनपढ़ हैं और सरकार द्वारा करोड़ो रुपये खर्च करके 5 वर्ष में 10 करोड़ लोगों
को अक्षरज्ञान देने की योजना चलाई जा रही है। झुग्गी-झोपड़ी की शहर में रंगीन
अट्टालिकाओं से अदावत चल रही है तो बीमार गरीब का बेटा फीस के अभाव में

बुरे पहलू को देखने का यह उनका नजरिया था। बेदी प्रगतिशील लेखक संघ के सक्रिय सदस्य थे तथा मार्क्सवादी विचारधारा ने उनपर परवान चढ़ाया था।

राजेन्द्रसिंह बेदी दूसरों की भांति (प्रेमचद, नरेन्द्र शर्मा, कमलेश्वर, कृष्ण-चन्दर, ख्वाजा अहमद अब्बास, इस्मत चुगताई) फिल्मों मे आजीविका कमाने के लिये अवश्य गये थे लेकिन जीवन भर 'बेदी' ही बने रहे। वह अपने को फिल्मो की व्याव-सायिकता में नही ढाल पाये। उनकी 'दस्तक' फिल्म बॉक्स ऑफिस हिट अवश्य हुई लेकिन पैसो का अम्बार नहीं लगा सकी।

कुछ साल पहले बेदी पर लकवे का हमला हुआ तथा वे बिस्तर पर थे कि उनके लड़के का देहांत हो गया। उनकी पत्नी सतवंत कौर का देहांत पहले ही हो चुका था। उन्हें यह सभी सदमे झेलने पड़े।

राजेन्दसिंह बेदी को सोवियत लैण्ड पुरस्कार, गालिब पुरस्कार और पद्मश्री भी मिली लेकिन इस सबसे कहीं अधिक उन्हें देश और विदेश की प्रगतिशील शक्तियो की प्रशंसा और आदर भी मिला। उनकी रचनाओं का अनुवाद पंजाबी और दूसरी भाषाओं में ही नही अपितु रूसी एव जर्मन भाषाओं मे भी हुआ।

राजेन्द्रसिंह बेदी तबियत से बहुत प्रेमी थे। उनके मित्र—खुशवंतसिंह के अनुसार अभिनेत्री रेहाना सुल्तान और वहीदा रहमान के सानिध्य में काम करते हुए वह भावावेश मे दीवाने हो जाते थे। परिवार का अकेलापन और जीवन का सौन्दर्य उन्हें बहुत भीतर तक मोड तोड़ चुका था तथा वे प्यार के क्षणों में अक्सर भावुकता से रोने लग जाते थे। उनके लिये स्त्री महज एक शरीर नही होती थी वरन एक प्रेरणा और दिव्यलोक होता था।

बेदी का कहानीकार हमारे बीच एक यथार्थ का ऐसा आंदोलन है जिसे पढ़ने में आनन्द आता है और दिल सामाजिक सच्चाइयो में डूब-डूब जाता है।

29-11-1984

सेठ की धर्मशाला

आस्करवाइल्ड ने कहा था कि किताब नाव के लिए पतवार की तरह है। ऐसी ही अनेक सारगर्भित बातें समय-समय पर विद्वानों ने दोहराई हैं। आज तक

कथानकों से शुरू करना चाहिए। असमानता की गर्त में डूबे समाज की सिसकियाँ और संघ यदि किताबों में भी जीवित नहीं रहेंगी तो दुनिया किस प्रकाश की तरफ मुड़ेगी।

जो लोग कहते हैं कि आजादी का रास्ता तपशील सहिष्णुता, दक्षिणा, भजन कीर्तन और हिंसा में है उन सबको यह बात भी खुद पहले समझनी होगी कि 'भूखे भजन न होये गोपाला, यह लो अपनी कंठी माला।' एक को छोटा और असहाय बनाये रखने का साहित्य तथा संस्कृति अब नितान्त असमय का राग है। जिस प्रकार सहस्त्र विष्णु यज्ञ अथवा चण्डी यज्ञ रज को उगने से नहीं रोक सकते उसी प्रकार जनचेतना के उत्थान को दुनिया की कोई ताकत नहीं रोक सकती। हम अपनी व्यक्तिगत कमजोरी और अज्ञान के कारण समय के सत्य को झूठ कभी नहीं बना सकते।

किताबों में शोषण और असमानता से मुक्ति मांगते इन्सान की आवाज अब उन सबको सुनाई पड़ेगी जो भोजन तथा कपड़े से अधिक महत्व पुस्तकों को देते हैं। आए दिन भले ही हम किसी दूसरी महाभारत में लगे रहते हों लेकिन उन सबके बीच भी किताबों के हथियार सम्भालना कोई कैसे भूल सकता है।

किताबें महंगी हों तो उसे भी सस्ते दाम की बनाया जा सकता है तथा किताबें किसी भी देश में प्रकाशित हुई हों तो उसे यहाँ मंगाया जा सकता है लेकिन लेखक और पाठक के बीच बातचीत का सिलसिला अपनी खुद की धरती से शुरू होना चाहिए। अज्ञान के सागर में ज्ञान की नाव और उसकी पतवार यह किताबें ही बन सकती हैं क्योंकि दल, बल और छल तो सब खुद राज्य में निहित हैं लेकिन राज्य की शक्ति उसकी जनता में रहती है और उस जनता की आत्मा उन्हीं किताबों के सुर्ख अक्षरों में जीवित रहती है जिसे सामाजिक और आर्थिक समानता की स्याही से लिखा गया हो।

स्थाई रूप से यह दुनिया किसी सेठजी की धर्मशाला, सन्त का आश्रम, ठाकुर का गढ़, मालिक का कारखाना, कर्मों का फल, मन्दिर की भाखी अथवा किसी विधवा का विलाप मात्र नहीं है अतः टहलिये मत बार-बार दरवाजा खटखटाइए। किताबों में छिपी जनता आपका स्वागत करना चाहती है। कोई तो कहे कि हम दुनिया को बदलना चाहते हैं। आए दिन किराये के मकान बदलने के अभ्यस्त मध्यमवर्गी लोग तो स्थाई दुनिया की आवश्यकता को जल्दी समझ सकते हैं।

23-11-1978

स्कूल नहीं जाकर खेत में या शहर में किसी नए रईस के घर बर्तन मांजने को लाचार है।

बढ़ती आबादी से जनता की खुशहाली सिमटती जा रही है रुपये का बाजार-भाव घटता जा रहा है तथा संवेदनहीनता की स्थिति में इन्सान का मन केवल प्रतियोगिता का सिपाही बनकर रह गया है। मृत्युभोज, बाल-विवाह, दहेजदान, भवन निर्माण, गहने और कपड़ों की चमक-दमक तथा वाहनों की दौड़ जैसे महत्व-हीन कामों में उसे सबसे अधिक खुद के भविष्य की चिन्ता है। यहाँ तक कि उसे बीवी और बच्चों में भी खरीदे हुए माल की तरह उपयोगिता के सवाल सुनाई पड़ते हैं।

समाज की इस घनघोर विसंगति में किताबों का जीवन और जगत आम आदमी से किस सीमा तक जुड़ पायेगा इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। जहाँ बाजार में धड़ल्ले से चाट की तरह बिकने वाली पुस्तकें, धार्मिक प्रतिष्ठानों द्वारा आकर्षक ढंग से प्रकाशित नए-नए भगवानों के प्रवचन और समाज का रीति रिवाज एवं दिखावे की ओढ़ी गई जड़ताओं से बांधकर रखने वाला साहित्य सस्ते दाम पर हर जगह उपलब्ध है वहाँ मनुष्य की समता का, प्रगति का और मानवीय क्षमता का साहित्य कहीं किसी निश्चित स्थान पर ही उपलब्ध है। देश के हर गाव में 'किताबघर' खुलने का सपना तो शायद तभी साकार हो पायेगा जब हमारे यहाँ लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना हो सकेगी।

वर्तमान स्थिति और परिस्थिति जैसी भी है हमे इस बात की खुशी है कि अराजकता के जगल में आशा की एक किरण कहीं भी हो व्यक्ति उस तक अवश्य पहुँच जायेगा। राजस्थान में जन चेतना के इस घर को जिसे दुनिया के लेखकों ने, वैज्ञानिकों ने, अर्थशास्त्रियों ने और मजदूरों की उन्नत संस्कृति के निर्माताओं ने अपने अनुभव की किताबों से बनाया है यहाँ का जनमानस भी अपनी अनुभूतियों से विकसित करेगा।

हमारे आसपास सेठ और सेठानियों के रूप में शोषक श्रेणी के प्रपंच हैं, हमारे बीच ठाकुर और ठिकानेदारों के जोर-जुल्म की दास्तानें हैं, हमारे निकट किसी हरिजन और आदिवासी की असामयिक मौत का खून बिखरा पड़ा है। हमारी इज्जत और ईमानदारी पर न मालूम कितने गुण्डों ने सुबह से शाम तक ताने मारे हैं। हमारी बहिन-बेटी और माँ को न मालूम कितने समाज सुधारक देश से विदेश तक पोशाकें बदल-बदल कर बेच रहे हैं। हमारी चौपाल पर नौकरशाही का भ्रष्टा-चार दण्ड बैठक लगा रहा है तो हमारी धवल किसी के यहाँ मासिक तनख्वाह पर गिरवी पड़ी है। ऐसी अनेक ऐय्याश प्रेतात्माओं के खेलकूद जिस अर्द्ध-विकसित समाज में हों वहाँ की दुनिया बदलने का काम हर क्षेत्र के रचनाकार को इन

कथानकों से शुरू करना चाहिए। असमानता की गर्त में डूबे समाज की सिसकियाँ और गम यदि किताबों में भी जीवित नहीं रहेगी तो दुनिया किस प्रकाश की तरफ मुड़ेगी।

जो लोग कहते हैं कि आजादी का रास्ता तपशील सहिष्णुता, दक्षिणा, भजन कीर्तन और हिंसा में है उन सबको यह बात भी खुद पहले समझनी होगी कि 'भूखे भजन न होंय गोपाला, यह लो अपनी कंठी माला।' एक को छोटा और असहाय बनाये रखने का साहित्य तथा संस्कृति अब नितान्त असमय का राग है। जिस प्रकार सहस्त्र विष्णु यज्ञ अथवा चण्डी यज्ञ रज को उगने से नहीं रोक सकते उसी प्रकार जनचेतना के उत्थान को दुनिया की कोई ताकत नहीं रोक सकती। हम अपनी व्यक्तिगत कमजोरी और अज्ञान के कारण समय के सत्य को झूठ कभी नहीं बना सकते।

किताबों में शोषण और असमानता से मुक्ति मांगते इन्सान की आवाज अब उन सबको सुनाई पड़ेगी जो भोजन तथा कपड़े से अधिक महत्व पुस्तकों को देते हैं। आए दिन भले ही हम किसी दूसरी महाभारत में लगे रहते हों लेकिन उस सबके बीच भी किताबों के हथियार सम्भालना कोई कैसे भूल सकता है।

किताबें महंगी हों तो उसे भी सस्ते दाम की बनाया जा सकता है तथा किताबें किसी भी देश में प्रकाशित हुई हों तो उसे यहाँ मगाया जा सकता है लेकिन लेखक और पाठक के बीच बातचीत का सिलसिला अपनी खुद की धरती से शुरू होना चाहिए। अज्ञान के सागर में ज्ञान की नाव और उसकी पतवार यह किताबें ही बन सकती हैं क्योंकि दल, बल और छल तो सब कुछ राज्य में निहित है लेकिन राज्य की शक्ति उसकी जनता में रहती है और उस जनता की आत्मा इन्हीं किताबों के सुर्ख अक्षरों में जीवित रहती है जिसे सामाजिक और आर्थिक समानता की स्याही से लिखा गया हो।

स्थाई रूप से यह दुनिया किसी सेठजी की धर्मशाला, संत का आश्रम, ठाकुर का गढ़, मालिक का कारखाना, कर्मों का फल, मन्दिर की झांकी अथवा किसी विधवा का विलाप मात्र नहीं है अतः ठहरिये मत बार-बार दरवाजा खटखटाइए। किताबों में छिपी जनता आपका स्वागत करना चाहती है। कोई तो कहे कि हम दुनिया को बदलना चाहते हैं। आए दिन किराये के मकान बदलने के अभ्यस्त मध्यमवर्गी लोग तो स्थाई दुनिया की आवश्यकता को जल्दी समझ सकते हैं।

23-11-1978

यह कलंक कब मिटेगा

हमारा देश विविधताओं का अजायबघर है। पुस्तकों के अनुसार यहाँ भेड़ और बकरी एक ही घाट पर पानी पीते हैं तथा मुसलमान और हिन्दू एक ही नाव पर सवारी करते हैं किन्तु फिर भी वे अपने को एक दूसरे से अलग और बड़ा मानते हैं। इस ढोंग की लम्बी परम्परा और ओछी राजनीति है। सामान्य आदमी अक्सर इस बात को नहीं समझ पाता कि हिन्दू अच्छा क्यों है और मुसलमान खराब क्यों है अथवा हिन्दु खराब क्यों है और मुसममान अच्छा क्यों है।

असल में ये सारी राजनीति इन्सान को उसके जन्म के बाद हमारी तथाकथित सभ्य दुनिया में समझाई जाती है कि तू गोरा है और काले से श्रेष्ठ है तथा तेरी जाति के सामने तो दूसरी सारी जातियाँ छोटी हैं। वेद, कुरान, बाइबिल, गुरु ग्रंथ साहब, जपुजी जैसे पावन ग्रन्थों में तो हर तरह से ये समझाया गया है कि सब इन्सान समान हैं, भगवान अथवा खुदा के प्यारे बन्दे हैं लेकिन असली जीवन में हम जिस तरह अपने आपको कुलीन और दूसरों को अछूत साबित करने की चेष्टा करते हैं उसका अत्यन्त दुखद इतिहास है। अलीगढ़ की घटनाएँ तो केवल हमें उस नंगे सत्य के दर्शन कराती हैं। जिसे हम आमसभाओं में धर्मनिरपेक्षता के नाम पर बेच रहे हैं। अलीगढ़ की कहानी मूलतः भारतीय लोकतन्त्र पर करारा तमाचा है और सम्पूर्ण क्रान्ति करने वालों के लिए चुनौती है। आखिर वह कौन है जो मनुष्य के विकास को समाप्त कर रहा है, आखिर वह कौन-सा कट्टर पंथ है जो मानवता को धर्म, जाति और नस्ल के नाम पर विभाजित करना चाहता है?

आजादी के साथ जो जातीय दंगे हमें विरासत में मिले हैं वे आज भी रह-रह कर जाग उठते है। मरने वाले अबोध लोग मर जाते हैं लेकिन इस रक्तयात्रा का कभी अन्त नहीं होता। हमारी पढ़ाई-लिखाई, धर्म, अहिंसा, सहिष्णुता, मानवता और नैतिकता जब चाहे तब खून की प्यासी हो उठती है। आखिरकार हमें अपने आपको सभ्य कहने का क्या अधिकार है? इतिहास के पन्ने बदलने से उसकी लिखावट थोड़े ही बदल जाती है। हमें ये कहते शर्म आती है कि हम सबसे अधिक मानवता प्रेमी होने का प्रचार करते हैं, भाग्य और भगवानवादी होने का दावा करते हैं किन्तु हमारी गोद में जो एक नृशंस हत्यारिन संस्कृति पल रही है उससे पीछा छुड़ाना नहीं चाहते। यदि हम धरती को इसीलिए स्वर्ग बना रहे हैं कि बाद में उस पर खुद अकेले ही रहेंगे तो ये एक धार्मिक पागलपन है और वसुधैव कुटुम्बकम् की ... का अन्त है। भौतिकवाद को जब धर्म के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा माना ... फिर भौतिकवाद ही धर्म प्रधान लोगों में सबसे अधिक क्यों पाया जाता

है ? इस विसंगति को नहीं समझने के कारण ही कहा जाता रहा है कि भारत 33 करोड़ देवताओं का देश है तथा यहाँ दूध-दही की नदियाँ बहती हैं।

लेकिन आज 85 करोड़ देवताओं का तमाशा सम्भाले नहीं सम्भल रहा है। वह इस बुरी तरह 'अपनी-अपनी ढपली, अपना-अपना राग' अलापने में तल्लीन है कि लोग सामाजिक न्याय की बात भूल गए हैं, समाजवाद को हिंसा के जंगल मे छोड़कर भाग गए हैं और धर्म-निरपेक्षता की हिफाजत धर्म की नंगी तलवारों से करने लगे हैं। सम्भवत: ऐसी ही मनोवृत्ति के कारण देश मे हरिजनो को जीवित जला दिया जाता है, पाई-पाई के लिए जान ले लेने वाला व्यक्ति मन्दिर मे तन मन धन अर्पित करके सन्यासी बन जाता है, और नारी की पूजा करने वाला समाज उसे कौडियों के मोल खरीदने मे आनन्द लेता है। यही तक नही वह तो स्त्रियो से उपदेश करता है कि वे बलात्कार रोकने मे समाज की मदद करें। भारत की आत्मा के साथ धर्म, धन और धरती के नाम पर होने वाले ये बलात्कार आखिर कोई चन्द्रलोक के इन्सान नही कर रहे है अपितु हम खुद अपनी सभ्यता के साथ कर रहे है। अत: लोकतन्त्र कोई ऐसी द्रोपदी नहीं मानी जा सकती जिसके कि अनेक पति हों।

एक साहब फरमाते है कि 20 वर्ष मे सभी को मकान मिल जायेंगे तो दूसरी दुकान के इश्तहार मे प्रलोभन दिया गया है कि 10 वर्षों मे सारी बेरोजगारी मिटा दी जाएगी तो तीसरे चौराहे पर नारे लिखे जा रहे हैं कि 4 साल मे शराब-बन्दी करदी जाएगी तो चौथे सवार गरीब की बीबी से बोलते है कि तुम डरो मत, भगवान तुम्हारी पूरी रक्षा करेंगे। आखिर ये सब चाहते क्या है ? मेरे पास तो सैकड़ो प्रकार की गुलामी है भला मै इन्हे अब और क्या दे सकता हूँ। लोकतन्त्र के लुटेरे मुझमे बार-बार एक सवाल करते है कि तुम रोटी और आजादी मे से किसी एक को चुन लो ? किन्तु मै तो रोटी और आजादी दोनो को ही चाहता हूँ। क्योंकि मै तो माँ और बाप दोनो की देन हूँ।

हत्याओं की खिलाफत क्यों नहीं करते और राजघाट की सौगंध में नहायी संस्कृति वाले साम्प्रदायिकता के विरोध में शंखनाद क्यों नहीं जगाते। आखिर 85 करोड़ देवताओं के देश में यह राजनैतिक सर्कस कब तक चलेगा?

16-11-1979

सुरजमुखी संस्कृति

लोक संस्कृति के बदलते स्वरूप ने अब यह स्पष्ट कर दिया है कि आज का 'लोक' जिस संस्कृति को जन्म दे रहा है वह उसकी इच्छानुकूल संस्कृति नहीं है। अनजाने में जो बहुत कुछ हो रहा है उस का परिणाम है कि संस्कृति की स्थिति ऐसे हाथी की तरह हो गई है जिसके खाने के दांत और हैं तथा दिखाने के और।

लोक संस्कृति के नाम पर जो संदर्भ आज जुटाये हैं वे इतने लघु हैं कि उनका अंत निरा वैयक्तिक होकर रह जाता है। परम्परा और प्राचीनता के ऐसे सभी उद्घोष जीवित मृतक के समान के साक्षी ही हैं। लोक जीवन का प्रतीक लोक संस्कृति के उत्थान एवं पतन को लेकर जो तर्क वितर्क दिये जाते हैं, लोक मानव की कुंठित चेतना की नींव पर स्वस्थ समाज के जो स्वप्न देखे जाते हैं, लोक भंगिमा के त्रिकोण से जिन सहयोगी रंगों को चित्रित किया जाता है और लोक विभेदों को लेकर जिस सामयिक नवबोधि संस्कृति की हम बात करते हैं, उसे देखकर इतना भर लगता है मानों हम बहुत पानी को बांधकर उसकी उपयोगिता बढ़ाना चाहते हैं।

हमने इसी कारण अनेक पूर्तियों के नाम पर इन असंख्य अनियोजित व्यवस्थाओं को जन्म दिया है जो आने वाली पीढ़ी के लिए लोक या परलोक दोनों में से किसी संस्कृति का भी प्रतिनिधित्व नहीं करेंगी।

लोक संस्कृति के ऐसे विघटित स्वरूप की विवेचना करने से पूर्व उसके तथाकथित पूर्वोन्मादकों को समझना होगा। चाहे वह किसी भी धर्म जाति, समाज, समय या शक्ति को प्रतिपादित करता हो उसमें एक मूल चेतना का उदय हमें अनवरत दिखाई पड़ता है।

हो या समाज के किसी भी वर्ग का आचरण। संस्कृति के ये एक ही काल और वद्यान्य है।

वस्तुतः हमने अपने सूत्र को सार्वभौमिक सूत्र के रूप में स्थापित करने का उपक्रम चला रखा है तथा यह पक्ष हमारी लोक संस्कृति को विभाजन के लिए तैयार कर रहा है। किसानो की संस्कृति हो या उद्योगो की इन सबके मूल में एक लोक समूह जुड़ा हुआ है अत यह बीसवी शताब्दी मे रहकर भी पाचवीं शताब्दी के लोकप्रमाद को लेकर चलता है।

संगतियो की इस संस्कृति का ही यह परिणाम है कि हम अनेकता में एकता के उपासक हैं तथा पुरातन को नूतन से जोड़ने के आदी हैं। पौराणिक संस्कृति की भूखी पीढ़ी को संस्कृति से यही आकर हम अलग-अलग नही देख सकते और उसका एक सामयिक अर्थ ढूढना पड़ता है।

लोक संस्कृति की व्याख्या चाहे कोई अमेरिकी करे या भारतीय, चाहे कोई दार्शनिक करे या अर्थशास्त्री। वह संस्कृति को अलग-अलग कपड़े तो पहना सकता है किन्तु उसकी काया और मन को जरा भी नही बदल सकता।

अत. समसामयिक के नाम पर लोक संस्कृति को जो अति अधुनातन बनाया जा रहा है उससे बचा जाना चाहिए। हम यह नही कहते कि पुरातन की पीड़ा का उपचार न हो किन्तु वर्तमान मे लोक संस्कृति की विभिन्न व्याख्याओ ने उसे और अधिक कठिन बना दिया है तथा अब वह मात्र प्रदर्शन और स्मृति के रूप में अवशेष होती जा रही है।

हमने लोक रूपों को संग्रहालयो की धरोहर समझ कर उन्हे मात्र शोध का सामान बना दिया है। हम यह नही समझ पाते कि आखिर वह कौन सी सम-सामयिक मूल्य चेतना है जो लोक संस्कृति को विघटित कर रही है तथा उसे व्यक्तिवादी समूहो के नाम पर बाट रही है? अतः संस्कृति का तथा-कथित परि-मार्जित रूप किसी भी रूप मे लोक मानव का प्रतिनिधित्व नही करता क्योंकि वह निरा विचारवादी है, आचरणवादी है और कष्टपूर्ण है।

समसामयिकता के धरातल पर असामयिक प्रक्रियाओं का प्रतिपादन केवल लघु समुदाय की कल्पना को मूर्तरूप देना है लोक संस्कृति का नही।

जिस प्रकार हम शरीर पर की चमड़ी को मांस मज्जा से अलग नही कर सकते उसी प्रकार हम लोकमत या लोकमूल्यो का भी संस्कृति की मूलधारा से अलग नही कर सकते क्यो कि संस्कृति का निर्माण राजनैतिक या व्यक्ति आकांक्षा के आधार पर नहीं किया जाता अपितु लोकोदय की भावना से किया जाता है।

6-11-1975

भिक्षावृत्ति

दुनिया में भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जहाँ कि भिक्षावृत्ति की अद्भुत सामाजिक परम्परा है। आज भी यहाँ भिखारी को देखकर लोगों के मन में दया आती है, दान करने का जी करता है तथा समाजवाद से पूँजीवाद तक के अन्तर दिमाग में घूम जाते है। ऐसे धर्म और सहिष्णुता प्रधान समाज में भिक्षा का स्वरूप कई रूपों में एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग को दान देकर स्वर्ग जाने की सीढ़ी के रूप में विद्यमान है।

भिक्षा के कई अर्थभेद हैं। कोई इसे मांगना, याचना, भीख, सेवा, वृत्ति, मजदूरों, सन्यासी को दिया जाने वाला अन्न कहते हैं तो कुछ अर्थकार इसे याचना से मांगी जाने वाली खैरात बताते है। असल में नाम भले ही कुछ हो पर है वह भीख की भीख।

भारतीय समाज में भीख मांगना कभी भी अच्छी बात नहीं मानी गई। लेकिन धर्म के साथ दान का जो विकास हुआ उसने चाहे-अनचाहे और जाने-अनजाने दान के नाम पर भिक्षावृत्ति को बनाये रखा। फर्क ये हुआ कि साधु संतो की भिक्षा तो मोक्ष प्राप्ति का साधन मान ली गई लेकिन सामान्य लोगों की भिक्षापन की आदत उनका निठल्लापन और लाचारी समझ ली गई।

भिक्षा के कई स्वरूप भेद भारतीय समाज में आते रहे हैं। एक समय था जब ऋषि-मुनियों के दान पात्र भरे जाते थे, श्रावकों के सिंहासन सजते थे, फकीर की झोली भरकर दुआएँ और वरदान लिए जाते थे, संतों के रसोड़े लगते थे, वार-त्यौहार और जप-तप या संतान प्राप्ति के दिन ब्राह्मण को भोजन या दान-दक्षिणा दी जाती थी और अश्व, रत्नाभूषण से लेकर न जाने कितनी-कितनी चीजों का दान किया जाता था। आज भी हमारे संस्कार प्रधान जीवन में यह मान्यताएँ चलती हैं कि दान ही धर्म का आभूषण है, दान करने से धन घटता नहीं तथा संसार के तीन सबसे बड़े सद्गुण हैं—आशा, विश्वास और दान। भक्त कवियों ने दान की महिमा गाई है और अपने आराध्य के चरणों में उसकी दया का भिखारी अपने को कहा है।

दान, दया और उपकार का यह सांस्कृतिक एवं पौराणिक आख्यान आज की भिक्षावृत्ति से किस तरह भिन्न है यह बात केवल दिल बहलाने की कसरत मात्र है क्योंकि किसी का दान स्वर्ग की सीढ़ी नहीं बांध सकता तो किसी की भीख उसे नरक में नहीं ले जा सकती है। भले ही ये भी कहा जाता हो कि भीख मांगना पाप

है, भीख मांगने से पहले तो आदमी को मर जाना चाहिए और—रहिमन वे नर मर चुके जे कहिं मांगन जाहि। उनसे पहले वे मरे जिन मुख निकसत नाहि ॥ अतः एक ध्वनि इन दोनों समानान्तर स्थितियों से निकलती है कि बिना मांगे मिला हुआ दान है और पावन है तथा प्राप्तकर्ता व्यक्ति का बड़प्पन जताने वाली घटना है तो मांग कर तथा याचना करके ली जाने वाली हर चीज भीख है और घृणित है। सन्त कबीर दास का कहना था कि—

मांगन मरन समान है, मत कोई मांगे भीख।
मांगन से मरना भला, यह सतगुरु की सीख ॥

दान और भीख के इसी भेद को रूपान्तरण के स्तर पर इस तरह भी समझाया गया कि—

मान सहित विष खाय के, शम्भु भए जगदीश।
बिना मान अमृत पिये राहु कटाये सीस ॥

आज हमारे समाज में सबकी पसन्द के यह मुहावरे ज्यों की त्यों प्रचलित हैं तथा जिसकी जैसी विधा होती है वह अपने समर्थन में दान को भीख साबित कर देता है तथा भीख को दान घोषित कर देता है। यही कारण है कि भारतीय लोक जगत् में कंगाल से कंगाल व्यक्ति भी यह मानता है कि मेरे घर आया कोई व्यक्ति निराश नहीं लौटना चाहिए तो मेरे सामने फैला हाथ कभी खाली नहीं जाना चाहिए। हमारी ऐसी धारणा है कि दान-धर्म और भिक्षावृत्ति एक-दूसरे से परस्पर जुड़े हैं तथा इन सबका समाजशास्त्रीय वर्गीकरण तथा विभाजन किया जाना चाहिए ताकि धर्म भिक्षा को न बढ़ाये तथा भिक्षा की आड़ में धार्मिक आस्थाओं का शोषण बन्द हो जाये।

सदैव की भाँति आज भी भिखारियों के झुण्ड मन्दिर, मस्जिद और गुरुद्वारों के आसपास मिलेंगे तथा होटल-रेस्टोरेन्ट या भीड़ भरी सड़कों पर दिखेंगे। इन सब भिखमंगों को देखकर अब हमारा समाज कुछ नाक-भौं सिकोड़ने लगा है तथा उसे राष्ट्रीय हितों एवं गरिमा के विपरीत समझने लगा है, बल्कि समाज सुधारकों की घोषणाएँ भी इस बात का प्रयास करती लगती हैं कि समाज में एक भी व्यक्ति भिखारी नहीं रहना चाहिए। लेकिन जिस देश की आबादी का एक-तिहाई से अधिक हिस्सा भूख और गरीबी की पीड़ा भोग रहा हो, वहाँ इन भिखमंगों का निदान एक व्यापक कार्यक्रम और शिक्षा मांगता है। जिस प्रकार किसी के कहने से गरीबी नहीं मिटती, उसी प्रकार किसी कानून के द्वारा भिक्षावृत्ति को रोकना भी नितान्त अधूरा प्रयास है, क्योंकि जब तक हम रोजगार के साधन और आवश्यकताएँ नहीं देंगे तब तक लोगों के हाथ फैले रहेंगे तथा उनकी आँखों में याचना बनी रहेगी।

बेरोजगार युवकों का हंगामा, मूल्यों की जड़ता को तोड़ने का उन्माद और दलीय राजनीति के माध्यम से फिर उसी नियति का खेल देखकर तथा सुनकर लगता है कि हम निश्चय ही अपने आपसे अपरिचित हैं तथा मूल्यों के साथ सामयिक आवश्यकता के गतिरोध तोड़ना नहीं चाहते।

एक युवा पीढ़ी ने स्वाधीनता संग्राम लड़ा और दूसरी युवा पीढ़ी आज सत्ता को सुख समझ रही है तो तीसरी युवा पीढ़ी परिवर्तन के लिए उतावली शहर और कस्बों में बन्द, हड़ताल, सत्याग्रह और उत्पात के बल पर लोकतन्त्र को मजबूत बनाने में सलग्न दिखती है। सभी के पास सत्य, अहिंसा और धर्म-निरपेक्षता की तख्तियाँ हैं, सभी के अग्रज गौतम, गांधी और महावीर हैं तथा सभी के मन में आम जनता के प्रति सम्मान है। यदि हम इन सभी चेहरों को पढ़ें तो हमे अहसास होगा कि आखिर सही युवा चेतना किस में है ? उसे किस गाँव या शहर में, स्कूल में या विश्वविद्यालय में, रामलीला या फिल्म में तथा किस इतिहास या भूगोल में तलाशा जाये ? ऐसे पूरे अस्पष्ट वातावरण में यदि हम शुद्ध विश्लेपण की दृष्टि से देखें तो हमे मानना पड़ेगा कि आज का युवक सौ प्रतिशत संवादहीनता की स्थिति मे है तथा वह जिस समाज में रहना चाहता है उसमें उसे बहुत-से अनदेखे विषयो पर भी अपनी सहमति लुटानी पड़ रही है। अतः कौन किसको अपनी सुविधा के अनुसार काम मे ले रहा है—यही बात मूल रूप से देखी-समझी जानी चाहिए।

कुछ लोग शहर के 5 प्रतिशत युवक वर्ग को पूरे भारत की युवा चेतना का प्रतीक सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। ऐसे पुस्तक छाप विद्वान ठीक उस डॉक्टर के समान हैं जो रोगी पर अपनी गलत दवाओं के असर को समाप्त न कर पाने की असफलता में—या तो वर्तमान चिकित्सा पद्धति को बुरा बताता है या फिर रोगी पर बदपरहेजी का आरोप लगाता है। क्यों ? गाँव का युवक हड़ताल नहीं करता, बस या ट्राम नहीं जलाता तथा बन्द या घेराव नहीं करता। आखिर उसको कौनसा सन्तोष है, उसकी कौनसी विरासत है जो उसे शान्त और सन्तुलित बनाये हुए है ? इसके विपरीत आज के शहर का युवक जो कुछ भी कर रहा है, उसके ठोस व्यवस्था-प्रदत्त कारण हैं। अतः प्रश्न बाहर देखने का नहीं अपितु भीतर देखने का है।

वर्तमान युवा चिन्तन एक पारिवारिक अपेक्षा रखकर चलता है। उसे रोजी-रोटी और शिक्षा-दीक्षा के साथ-साथ सामाजिक और राजनैतिक प्रपचों से मुक्ति चाहिए। उसे पाश्चात्य मुहावरों की जगह अपनी अगुवा पीढ़ी से रचनात्मक ~~ाचरण चाहिए।

आर्थिक विषमता, मूल्यहीनता और विरोधाभास के लाठी प्रधान समाज में ...नी ही सन्तानों पर तरह-तरह के नारे और प्रश्न उछालना ही समस्या का हल

नही होगा, क्योंकि सामाजिक प्रदूषण का दायित्व भविष्य पर नहीं रहता अपितु विगत और वर्तमान पर होता है। युवकों की नैतिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि बनाना तब मोहभग का विषय रहेगा, जब तक कि हम युवक को अपने से छोटा मानते रहेंगे तथा उसे अपनी ही सन्तान के मुहावरे मे देखते रहेंगे।

आज के हर धरातल से हम ऐसा पायेंगे कि देश की वर्तमान युवा चेतना समसामयिक समाचार चेतना के छलावे को समझती है तथा अधिक निर्णय और सोचने की क्षमता रखती है। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि सामाजिक अभिनेता पहले स्वय अपने वर्ग चरित्र और आर्थिक परिवेश को समाजवादी परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य मे देखें। आज के प्रसगो ने, पेशेवर विचारको ने और सत्ता प्रेमी दलों ने वर्तमान आर्थिक असन्तोष का झण्डा युवको के हाथ में देकर जिस नये लोकतन्त्र की स्थापना का अभियान छेड़ा है—उससे युवा चेतना को सतर्क रहने की आवश्यकता है क्योंकि प्रतिबद्ध राष्ट्र की नियति किसी जुलूस की शक्ल से तय नही होती।

आज का युवा जगत् हमारे देश मे उक्त दोहरे सकट से गुजर रहा है। उसके सामने एक तरफ स्वभावगत परिवर्तन की इच्छा है तो दूसरी तरफ किसी श्रमप्रधान रचनात्मक दिशाकल्प का अभाव है। अत: परिणाम यह बनता है कि युवक हर विचार-बिन्दु पर सचालित होते हुए भी निर्णायक तन्त्र से बाहर ही रखा जाता है। भारतीय युवा चेतना की मानसिक पृष्ठभूमि जहाँ एक ओर व्यापक तात्कालिकता से प्रेरित है, वहीं उसमे अपने अग्रेजो से अन्तिम लड़ाई लड़ने का सस्कार भी नही दिखता। अतः कई बार असमजस मे यत्र-तत्र की राजनैतिक आवश्यकताओं के अनुरूप अपनी बेचैनी का प्रदर्शनभर उसका मतव्य हो जाता है। वर्तमान सन्दर्भ मे जबकि पूरे देश मे एक असन्तोष की ग्राम-सभा चल रही हो, युवको को चाहिए कि वे अपनी सही दिशा निर्धारित करते हुए राष्ट्रीय हित मे रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाकर चलें। आज का साहित्य शोध और विचारतन्त्र पूरी तरह युवा चेतना की महत्ता को मानने लगा है किन्तु किसी भी देश की युवा शक्ति अपने परिवेश से हटकर नही चल सकती। सभी लोग सुबह से शाम तक की जिन्दगी मे किसी एक क्षण को अपने युवा दिनो की याद करते है। आज के युवक और स्वय की तुलना करते है। इसलिए पीढ़ियों की सामाजिक अन्तर-रचना मे एक स्पष्ट भेद को स्वीकारते हुए कुछ जिज्ञासाएँ जगानी चाहिए।

लेकर चलेंगे तो वह देश के लिए वरदान सिद्ध हो सकता है और यदि आप उसे मातहत बनाकर विकसित करना चाहेंगे तो वह देश के लिए आग भी सिद्ध हो सकता है।

आज की युवा चेतना का संकट विशुद्ध रूप से मूल्यगत संकट है, अतः हमें उसके साथ एक समन्वयवादी दृष्टि अपनानी होगी तथा उसके सामने अपने पूरे सूत्र ईमानदारी से प्रस्तुत करने होंगे। उम्र का अहम्, किसी भी विकास यात्रा के लिए बेमानी होता है क्योंकि सभी की उम्र अनुभव का तीखापन लिये नहीं होती, अपितु उन पर एक भ्रान्त पर्यावरण का प्रभाव बना रहता है।

पारिवारिक तिरस्कार से लेकर सामाजिक स्वीकृति तक का इतिवृत आज की युवा चेतना को परिचालित करता है।

अतः हम विचार कर सकते हैं कि वर्तमान संरचना मे युवा मानस कैसा, क्यो और किस भांति बनाया जाये? अस्तित्व का संकट, आत्मविश्वास का अभाव, विपरीत सामाजिक मनोदशा, अव्यावहारिक विदेशी प्रभाव और आगे बढ़ती पीढ़ी का पीछे आती पीढ़ी पर दोषारोपण और आरोपित होने का स्वभाव—कई अर्थों में आज की युवा चेतना के सही विकास मे बाधक है। अतः सवाल एक-दूसरे को ठगने या दांवपेच से स्थापित रखने का नही है अपितु मिलकर एक नई युवा चेतना तैयार करने का है।

24-11-1974

जन विरोधी समीकरण

महंगाई का साहित्य, महंगाई की संस्कृति, महंगाई का संगीत तथा महंगाई की कला इन दिनों हमारे देश मे राष्ट्रीय विषय के रूप मे स्थापित हो चुकी है और सभी समझदार और नासमझ इस महंगाई की भूल-भुलैया मे फंसे है। विद्यार्थी, कर्मचारी, मजदूर, छोटा किसान आज उत्तेजित है, क्षुब्ध है, हतप्रभ है और निराश है। विकल्पहीनता एव निराशा की इस राजनीति ने सत्ताधारी को और अधिक शक्ति सम्पन्न तथा आम मतदाता को और अधिक विवश बनाया है। गौतम, महावीर और गांधी के देश मे भूख का उत्तर भारत सुरक्षा अधिनियम बन गया है, महंगाई का मनोविज्ञान सबके सिर चढ़कर बोलने लगा है। महगाई विरोध के आन्दोलन मे व्यापारी और अफसर को छोड़कर सभी शामिल है। व्यापारी हर दम

को चुनाव चन्दा देकर खुश है और अफसर हर रोज नेता का भाषण लिखने में व्यस्त है। आम जनता की समस्या मे ये वर्ग कही भी शामिल नही होना चाहता तथा इसका विशिष्टतावादी समीकरण जान-बूझकर श्रीमती इन्दिरा गांधी को छोटी हैसियत (इन्ही के शब्दो मे) के इन्सान से अलग-थलग कर देना चाहती है। देश से विपक्ष, नैतिकता, समाजवाद, अहिंसा, धर्म-निरपेक्षता और सर्वहारा चेतना अचानक ही गायब हो जाये तथा पीछे केवल महगाई रह जाये. ये षड्यन्त्र तो सबकी समझ मे आता है लेकिन ये बात अभी भी ठीक तरह से समझ मे नहीं आ सकी है कि पहले चोर की मां को पकड़ा जाये या चोर की मौसी को. अत निर्णय के समय ये पक्ष सामने रहना चाहिए।

देश मे उत्पादन भी खूब हो रहा है, प्रचार भी बढ़-चढ़कर हो रहा है, फिर महगाई किस बात की ? जिस-जिस का राष्ट्रीयकरण किया जाये वही चीज बाजार से गायब हो जाये, क्यो ? सस्ते भाव की दुकानो पर 'अनाज नहीं' मिले और व्यापारी की तराजू से ऊँचे भाव पर माल तुल जाये। अरब देश भारत को पैट्रोल आदि पहले की भांति ही देते रहे और मिट्टी का तेल चिमनियों से सूख जाये— भला ये कैसे हो सकता है ? जनता इस रहस्य को समझना चाहती है लेकिन सरकार उसे समझाना नही चाहती, आखिर मतदाता और मतयाचक मे इतना अलगाव किस बात पर है ? पेशेवर व्यापारी और अफसर पचवर्षीय योजना से लेकर राशन की दुकान तक छाये हुए हैं लेकिन जनता इन्हें किस कानून के अन्तर्गत बेदखल करे। अत. जब तक इस स्थिति का निदान तय नही किया जायेगा, तब तक सामान्य नागरिक हिंसा और अहिंसा के बीच कुछ भी चुनने को स्वतन्त्र रहता है।

आज पूरे देश मे महंगाई का मूल कारण सरकार को बताया जा रहा है तथा सभी वर्ग यह सिद्ध करने मे लगे हैं कि सभी समस्याओ का हल सरकार है तथा सभी समस्याओ को जन्म देने वाली भी सरकार है। यह स्थिति बिल्कुल गलत, भ्रामक और एकांगी है। निश्चय ही आम जनता की हत्या के षड्यन्त्र का पता सरकार को हो सकता है, लेकिन वह इस नियोजन मे शामिल या अग्रिम नहीं ठहराई जा सकती। इस सारे तिलस्म में व्यापारी और अफसर की वही भूमिका है जो फूस मे आग लगाकर दूर खडे हँस रही जमालो की है। हम बार-बार यही आकर निशाना चूक जाते हैं तथा पारम्परिक उदारता और सहिष्णुता के नाम पर सब कुछ भाग्य पर छोड़ देते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए।

जब महगाई को तोड़ने के लिए हर व्यक्ति तैयार है, तब सरकार हर व्यक्ति को तोड़ने की उतावली न करे तो ज्यादा सगत है। जब आत्महत्या और हत्या दोनों ही अपराध हैं तब महंगाई का समाज मे विकसित होना भी निश्चय ही एक अपराध है, इसलिए जन प्रतिनिधि को जनता के साथ अतिरिक्त सत्ता के रूप में

नहीं देखना चाहिए। महंगाई देशव्यापी है, विश्वव्यापी है, ये कहकर कुछ केवल मनोविज्ञान तो बदला जा सकता है, लेकिन मूल समस्या को कम नही जा सकता। इसकी तुलना मे सरकार को जनता के साथ मिलकर महं रोकने की स्पष्ट भीतरी और बाहरी समरनीति तय करनी चाहिए, ताकि ल यह भ्रम न रहे कि मेरा वोट ही मुझे लाचार बना रहा है।

सेना, पुलिस और अधिनियम तो केवल राष्ट्रविरोधी दशा एवं दि लिए ही काम में आनी चाहिए। पिछले दिनो गुजरात मे सेना का अभिवाद राजनेता का तिरस्कार किसी भय या आतंक से नहीं हुआ, अपितु इस घ लोकमानस के संकेत के रूप में समझा जाना चाहिए।

उबलते दूध को पानी की बूंदों से नहीं रोका जा सकता। यदि यही सरकार अपनाती रही तो कुछ समय के बाद न तो उसके हाथों मे दूध रहे न ही पानी। मिश्रित अर्थव्यवस्था, सहकारी वितरण प्रणाली, सामाजिक रूप और बुद्धिजीवियों की नसबन्दी, ये सब घटनाएं एक निश्चित अर्थ तलाश र आज आदमी निश्चय ही राष्ट्रीयकरण की प्रगतिशील समाजवादी नीि विश्वास करता है, वह विदेशी हुकूमत से लडने के बाद अपनी ही हुकूमत से अपना दुर्भाग्य मानता है लेकिन इसके बीच की महगाई की खाई को पाटने व कार्यक्रम बनाने मे ढील नही बरती जानी चाहिए। हर अच्छा सरकारी प्र नीति किस प्रकार कुछ ही दिनों में एक नाटक और ढोंग साबित कर दी ज इस बारीक बेईमानी को या तो सरकार समझ नही पा रही है, या फिर बहुत अस्थिर है और यदि ऐसा कुछ भी नही है तो फिर एक बार कहा जा है कि हमारे देश का बड़ा व्यापारी, जमीदार और अफसर जरूरत से संगठित और सतर्क है। तेल की खाली पीपियां यत्र-तत्र के मैदान मे अपन दिखाने लगी है। शताब्दी से गुलामी को सींचने वाला सरकारी कर्मचारी, र शाम तक पाव आटे के लिए जूझता मजदूर, राष्ट्रीय तरानों के गायक क बेरोजगारी बढाने वाले विश्वविद्यालय और समझदारों को देश का दुश्मन वाले पंचवर्षीय राजनेता अब सब एक भीड मे बदल गये हैं, पुराने प्रश्नों का नये प्रश्नों ने ले लिया है तथा महंगाई ने विविधता मे जिस एकता को सं किया है उसे आप चाहें तो क्रान्ति के आसपास कहें, चाहें तो सरकार के प कहें या चाहें तो सामान्य नागरिक के आसपास कहें, बात एक ही है अर्थ ... दिखाई दे।

वेद व्यास

जन्म : 1 जुलाई, 1942

प्रकाशन : धरती हेलो मारे (राजस्थानी गीत), परमवीर गाथा (जीवन परिचय), कोडी-नगरी (राजस्थानी गीत), गांधी प्रकाश (राजस्थानी काव्य संपादन), राजस्थान के लोकतीर्थ (निबंध), बागमती (राज-स्थानी काव्य संपादन), भारतवर्ष हमारा है (बालगीत), एक बनेंगे नेक बनेंगे (बालगीत), आज रा कवि (राजस्थानी काव्य संपादन), परिक्रमा (निबंध), लेखक और आज की दुनिया (निबंध संपादन), समय समय पर (निबंध)।

सम्प्रति : महामंत्री, राजस्थान प्रदेशीय लेखक संघ, 1962 से आकाशवाणी जयपुर में।

ISBN 81-7056-036-5